मुख्य वक्तव्य

प्रिय पाठको ! आत्मा को ससार चक्र में परिभ्रमण करते हुए शुभाशुभ कर्मों के प्रयोग से प्रत्येक पदार्थों की प्राप्ति हुई और भविष्यत् काल में यदि मोक्ष पद उपलब्ध न हुआ तो अवश्यमेव होगा । अतः धर्म प्राप्ति का होना असम्भव नहीं है तो कठिनतर तो अवश्यमेव है । कारण कि धर्म प्राप्ति कर्म-क्षय वा क्षयोपशम भाव के कारण से ही उपलब्ध हो सकती है । धर्म प्रचार से भी बहुत मे सुलभ आत्माओं को धर्म-प्राप्ति हो सकती है इसलिये धार्मिक पाठशालाओं की अत्यन्त आवश्यकता है, जिससे प्रत्येक बालक और बालिकाओं के पवित्र और सकोमल हृदयों पर धार्मिक शिक्षाएँ अकित हो जाएँ। यद्यपि भारतवर्ष में सासारिक उन्नति के लिये अनेक राजकीय पाठशालाएँ वा विश्वविद्यालय विद्यमान हैं और उनमें प्रतिवर्ष सैंकड़ों विद्यार्थी उत्तीर्ण होकर निकलते हैं तथापि धार्मिक शिक्षाओं के न होने से उन अविद्यार्थियों का चरित्र सगठन सम्यग्तया नहीं देखा जाता इसका मुख्य कारण यही है कि वे विद्यार्थी प्रायः धार्मिक शिक्षा से वचित होते हैं । अतः उन

विद्यार्थियों के माता पिताओं को योग्य है कि वे जिस प्रकार सांसारिक उन्नति करते हुए अपने पुत्र और पुत्रियों को देखना चाहते हैं ठीक उसी प्रकार अपने प्रिय बालक और बालिकाओं के धार्मिक जीवन के देखने की भी चेष्टा करें। जिससे उनके पवित्र जीवन भविष्यत् की जनता के लिए आदर्श रूप बन जाएँ।

धार्मिक शिक्षाएँ दोनों प्रकार की पाठशालाओं से उपलब्ध हो सकती हैं—जैसे कि राजकीय पाठशालाओं से वा जनता की ओर से स्थापित पाठशालाओं से। जिन २ पाठशालाओं में धार्मिक शिक्षाएँ विशेष वा अनिवार्य रूप से दीजाती हों उन उन पाठशालाओं से विद्यार्थियों को विशेष लाभ लेना चाहिए कारण कि वे धार्मिक शिक्षायें इस जन्म से लेकर पर लोक तक काम आती हैं इतना ही नहीं किन्तु अन्तिम फल उनका निर्वाण पद की प्राप्ति तक हो जाता है। अतः धार्मिक पाठशालाओं को सुरक्षित रखना और फिर उनसे लाभ प्राप्त करना यही आर्य पुरुषों का मुख्योद्देश्य होना चाहिए।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि धार्मिक शिक्षाएँ किन्हें कहते हैं ? इस प्रश्न के समाधान में कहा जाता है कि आत्मा को कर्मों से अयुक्त अनादि मानते हुए फिर उन कर्मों को

धार्मिक शिक्षाओ द्वारा आत्मा से पृथक् करने की चेष्टा करते रहना यही धार्मिक शिक्षाओं का मुख्योदेश्य है । अतः सर्व धर्मों में सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्र प्रधान श्री जैन धर्म की धार्मिक शिक्षाएँ परम प्रधान हैं।

मेरे हृदय में चिरकाल से ये विचार उत्पन्न हो रहे थे कि एक इस प्रकार की शिक्षावली के भाग तय्यार किये जावें, जिनके पढ़ने से प्रत्येक विद्यार्थियों को जैनधर्म की धार्मिक शिक्षाओं का सौभाग्य उपलब्ध हो सके । तब मैंने स्वकीय विचार श्री श्री श्री १००८ स्वर्गीय श्री गणावच्छेदक वा स्थविरपदविभूषित श्री गणपतिराय जी महाराज के चरणों में निवेदन किये तब श्री महाराज जी ने मुझे इस काम को आरम्भ कर देने कि आज्ञा प्रदान की तब मैंने श्री महाराज जी की आज्ञा शिरोधारण करके इस काम को आरम्भ किया । हर्ष का विषय है कि इस शिक्षावली के सात भाग निकल गये और कई भाग तो छठी आवृत्ति तक भी पहुँच चुके हैं जैन जनता ने इन भागों को अच्छी तरह अपनाया है ।

अब इस शिक्षावली का अष्टम भाग जनता के सामने आ रहा है इस भाग में उन उपयोगी विषयों का संग्रह किया गया है जिस से अष्टम श्रेणी के बालक वा बालिकाएँ भली प्रकार से

लाभ ले सकें। कर्मवाद वा स्याद्वाद अहिंसावाद तथा कर्म पुरु-षार्थवाद अवश्य पठनीय है इनके अध्ययन से प्रत्येक व्यक्ति का वास्तविक लाभ होसकता है।

यह सब श्री श्री श्री १००८ गणावच्छेदक पदविभूषित श्री मुनि जयरामदास जी महाराज की वा श्री श्री श्री प्रवर्तक पद विभूषित श्री मुनि शालिग्राम जी महाराज की कृपा का ही फल है जो मैं इस काम को पूरा कर सका। अतः विद्यार्थियों को योग्य है कि वे जैन धर्म की शिक्षाओं से स्वजन्म को पवित्र करें।

गुरुचरणरजसेवी—
आत्मा

आत्मशुद्धिभावना

(लेखक—श्रीयुत सेठ मनसाराम जी जीन्द)

हे श्री जिनेन्द्र भगवन्! श्रीसिद्धभगवन्! श्रीकेवलीभगवन्! आप को मेरा अनेक वार नमस्कार हो। हे सर्वज्ञ वीतरागप्रभु! मैं अनादि कालसे अज्ञान वश ससार चक्र मे फसा हुवा चारों गतियों में अनेक प्रकार के शारीरिक व मानसिक दु:खों का अनुभव करता आया हू। मेरे अति पुण्य और क्षयोपशम भाव के उदय से आर्य क्षेत्र, मनुष्य जन्म, उत्तम कुल, सत समागम, शास्त्रश्रवणादि, धर्म प्राप्त करने के दस बोलों की योगवाइ इस जन्म में मुझ को मिली है। हे परमात्मन्! अब आपके चरण कमलों में प्रार्थना करके मै यह चाहता हूँ मेरी आत्मा आठों प्रकार के कर्म मल से रहित होकर शीघ्रातिशीघ्र मोक्ष गति को प्राप्त हो आपके पवित्र सद् जीवन का अनुकरण करू। हे शाशनदेव! मेरी बुद्धि निर्मल हो तथा आप मेरे हृदय कमल में ज्ञान द्वारा व्यापक होकर मेरी आत्मा में प्रकाशमान हूजिये जिससे मेरी आत्मा का निज गुण सम्यक्ज्ञान सम्यक् दर्शन सम्यक् चारित्र सम्यक्तप शुद्ध क्षायकसम्यक्त्व रत्न प्रकट हो। हे अनन्त शक्तिमान् प्रभु! जबतक मेरा मोक्ष न हो इस भव पर भवमें मेरा हर रोम हर स्वास हर समय आपकी पवित्र शरण प्राप्त कर आपके वचनों पर अटलश्रद्धा भक्ति रहे मैं सदा आपके फ़रमाये हुए पाच सुमति तीन गुप्ती या धर्म का ही पालन करता रहू आपके शासन में परम प्रबल श्रद्धावान होते हुए मुझे दासत्व प्राप्त होना श्रेय है परन्तु जिन वचनों में

अथवा विहीन होकर षट् खण्ड विभूति की मुझे इच्छा नहीं क्योंकि आपके ही शासन में रहता और भक्ति रखने से मेरा संसार सागर से पार होना निश्चित है। हे परम रक्षक मेरे अंतःकरण के यह भाव हैं कि मेरी आत्मा मिथ्यात्व अव्रत कषाय प्रमादादि पांच आश्रव हिंसा झूठ चोरी मैथुन परिग्रह क्रोध मान माया लोभ राग द्वेषादि अठारह पापों से कि जो कि संसार समुद्र में डुबाने के मुख्य कारण हैं सर्वथा सर्व प्रकार निवृत्त होकर सदा सम संवेग निर्वेदादि पांच संवर बारह प्रकार बाह्यान्तर तप अनित्य अशरण एकत्व अन्यत्व अशुच्यादि बारह भावना उत्तमक्षमा मार्दव आर्जवादि दस लक्षण धर्म में कर्मों की निर्जरा हेतु प्रवर्ते। हे *अनन्त ज्ञान धारी प्रभु!* मेरी आत्मा करुणा और *शान्ति* रस के सागर में धर्म ध्यान शुक्ल ध्यान रूपी अति उज्ज्वल निर्मल जल में तेजू पीत, शुक्ल वरणा की धाराओं में स्नान मलरहित होकर सयोग गिरिरी मुक्त धाम करती रहे। हे कृपा रूप प्रभु! मेरा विचार, उच्चार आचार सदा शुभ वर्ते मेरी आत्मा में सदा समभाव वर्ते। चित्त अनाकुल रहे लाभ हानि यश अपयश सम्मान अपमान संयोग वियोग क्षमा शुभ अशुभादि हर अवस्था में समता भाव रहें। मेरी अभ्यर्थना का कारण *मोक्ष प्राप्त करने का हो सांसारिक सुखों की स्वप्न में भी चाह न रहे* संसार प्रति उदासीन रूपभाव वर्ते। हे सर्वज्ञदेव! मेरी चार गति चौरासी लक्ष जीव योनी के जीवों प्रति मैत्री भाव रहे किसी प्राणी से भय द्वेष भाव न हो अपितु मेरी आत्मा में इस प्रकार का साहस और बल उत्पन्न हो जिस से दुष्कर्मों की भी भली प्रकार सदा रक्षा और सहायता कर सकूं दया का बीज मेरे हृदय में अंकुरित हो जावे जिस से प्राणि मात्र का हित कर सकूं। हे परमात्मन्! गुणी जनों के प्रति मेरे

प्रमोद भाव रहें मेरी दृष्टि सदा दूसरों के गुणों और अपने अवगुणों पर रहे मेरा हृदय गुणियों के प्रेमपाश में बधा रहे, उन के ही प्रत्यक्ष दर्शन वार्तालाप तथा परोक्ष शास्त्र द्वारा सगति से हृदय असीम प्रफुल्लित रहे। मै औरो के दुर्गुण न देखता हुआ उन के गुणों का ग्राहक बनू। हे त्रलोक्यपति ! मेरा जीवन जगतवासी जीवो के लिए आदर्श रूप हो, दीन दु खी अनाथों के आर्तनाद को सुनकर मेरा हृदय करुणा और दया से उन के दु:खों को अपने दु ख के समान समझता हुआ आर्द्र हो जावे। यथाशक्ति तन मन धन से उनकी सहायता करने में तत्पर रहू। हे भगवन् ! निन्दा स्तुति ससार का स्वभाव ही है मुझ में इस प्रकार की सहन शक्ति उत्पन्न हो जिस से मैं निन्दा, क्रोध, अपमान, द्वेप करने वालों पर घृणा और प्रशसा, मान वडाई करने वालों पर प्रसन्नता प्रगट नहीं करू, बल्कि निंदक पापी आत्मा जो पाप प्रवृति मे रमण करते हुए अपने अशुभ कर्मों का बध एकत्रित करते हैं उनके प्रति मेरे करुणा भाव रहें उनके हर प्रकार आत्म सुधार में तत्पर रहू। हे नाथ ! मेरी यह पवित्र भावना है कि मैं सर्व जीवों का परम हितैपी होता हुवा आपके प्रतिपादन किये हुए अहिंसा न्याय पूर्वक व्रत का सर्वत्र प्रचार कर सकू। हे सर्वज्ञ देव ! मेरी आत्मा मे ऐसा बल उत्पन्न हो जिस से मैं प्रत्येक प्राणी के हृदय में शान्ति प्राप्त कर सकू और उस शान्ति प्रचार से प्रत्येक प्राणी प्रेममय जगत् का दर्शन कर सके और उसी शान्ति और प्रेम के माहात्म्य से निर्वाण पद के अधिकारी हो सकें। हे मोक्ष नायक प्रभु ! मेरा वह दिन धन्य होगा जब कि मैं ससार के विशेप बन्धनों से छूटकर एकान्त स्थान सेवन करके अखण्ड निर्मल निरातिचार श्रावक के बारह व्रत ग्यारह प्रतिमा आराधन करता हुआ अपनी आत्मा का

स्वाध्याय करूंगा। उत्तम ध्यान ध्याऊंगा जिन धर्म की प्रभावना करूंगा सधर्मी बन्धुओं व आत्म कल्याण के मार्ग में सहायक हूंगा तथा शांति भाव का सम्यक् ज्ञान सम्यक् दर्शन सम्यक चारित्र का अधिकारी बनाकर फिर मैं सर्व प्रकार संसार का त्याग करके निरातिचार साधु के पांच महाव्रत पालन करता हुआ विचरूंगा। हे त्रिलोकीनाथ ! मेरा वह दिन परम धन्य होगा जब कि मैं आखिर समय में साधु के पांच महाव्रतों में श्रावक के बारह व्रतों ग्यारह प्रतिमाओं में जो कोई अतिक्रम व्यतिक्रम अतिचार अनाचार जानते अजानते दोष लगा होगा उसकी आलोचना निन्दा करके दंड प्रायश्चित लेकर शुद्ध आराधिक होकर चार गति चौरासी लाख जीव योनि से क्षमा क्षमापना करके इह लोक परलोक सम्बन्धी सुखाभिलाषा नहीं करता हुआ मोक्ष सुख प्राप्ति का लक्ष्य सम्मुख रखता हुआ समाधि भाव में अनशन व्रत करके शरीर से ममत्व भाव हटाकर पंडित मृत्यु को प्राप्त हूंगा। हे जिनराज ! मेरी अन्तःकरण की यह भावना सफल हो यही आप से दोनों हाथ जोड़ नत मस्तक हो बारंबार प्रार्थना है।

ओं शान्ति ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स

प्रथम पाठ

(कर्मवाद)

आत्मा एक स्वतंत्र पदार्थ है जो चेतन सत्ता धारण करने वाला है जिसके वास्तव में वीर्य और उपयोग मुख्य लक्षण हैं। क्योंकि आत्मसत्ता की सिद्धि केवल चार बातों पर ही निर्भर है। जैसे कि—ज्ञान, दर्शन, सुख और दु ख।

पदार्थों के स्वरूप को विशेषतया जानना साथ ही उन पदार्थों के गुण और पर्याय के भेदों को भली प्रकार से अवगत करना उसी का नाम ज्ञान है।

पदार्थों के स्वरूप को सामान्यतया अवगत करना उसी को दर्शन कहते हैं। जैसे कि—किसी व्यक्ति को नाम मात्र से किसी नगर का सामान्य बोध जो होता है, उसी का नाम दर्शन है। जब फिर वह व्यक्ति उस नगर की वसति, जनसंख्या तथा नगर की आकृति तथा व्यापारादि के सम्बन्ध में विशेष परिचय कर लेता है, उसी को ज्ञान कहते हैं। सो ये दोनों गुण आत्मा के साथ तदात्म सम्बन्ध रखने वाले हैं।

यदि किसी नय के आश्रित होकर गुणों के समूह को ही आत्मा कहा जाए तदपि अत्युक्ति नहीं कही जासकती। कारण कि—गुण और गुणी का तदात्म रूप से सम्बन्ध होरहा है। ये दोनों गुण निश्चय से आत्मतत्त्व की सिद्धि करने

पास है। अतः व्यवहार दृष्टि से आत्मतत्त्व की सुख और दुःख द्वारा भी सिद्धि की जाती है। जैसे कि—जो पदार्थ जड़त्व गुण वाले हैं वे सुख वा दुःख का अनुभव नहीं कर सकते।

जिस प्रकार शीत और उष्णादि कष्ट को आत्मतत्त्व अनुभव करता है फिर उसकी निवृत्ति के लिये अश्राम परिश्रम करने लग जाता है ठीक उसी प्रकार अजीव तत्त्व उक्त प्रकार कष्टों का न तो अनुभव ही करता है और नांही उसकी निवृत्ति के लिए कुछ परिश्रम ही करता है। सो इससे सिद्ध हुआ कि—सुख या दुःख को अनुभव करने वाला आत्मतत्त्व ही है।

दुःखों को दूर करने के लिये व्यवहार पक्ष में अनेक प्रकार के उपायों का अन्वेषण करना फिर उन उपायों के अनुसार परिश्रम करते जाना ये सब जीवतत्त्व के अस्तित्व होने के साधारण प्रमाण हैं।

स्मृति आदि के होने से आत्मतत्त्व अपनी शाश्वतता सिद्ध कर रहा है और पांच भौतिक वाद का निराकरण भी साथ किये जारहा है। कारण कि—पांच भौतिक वाद स्वीकार किये जाने पर फिर स्मृति आदि आत्म विकास के गुणों का अभाव माना जायगा। अतएव सिद्ध हुआ कि—आत्मतत्त्व की सिद्धि के लिये ज्ञान दर्शन सुख वा दुःख ये कारण मानने युक्तियुक्त सिद्ध होते हैं वा इन्हीं कारणों से वास्तव में आत्मतत्त्व अपना अस्तित्व भाव रखने में समर्थ है।

यदि आत्मतत्त्व विषयक क्षणिक वाद स्वीकार किया जाए तब अफल वाद का साथ ही प्रसंग उपस्थित होजायगा। कारण कि कर्त्ता की उत्पत्ति मानने पर ही उस के द्वारा किये हुए कर्मफल का सद्भाव माना जा सकता है।

जब हेतु ही नष्ट होगया तो भला फिर फल किसको दिया जाए। अर्थात् जब कर्म करने वाला आत्मा ही क्षण विनश्वर मान लिया तो फिर उसको कर्मफल मिलना किस प्रकार माना जा सकता है। अतः निष्कर्ष यह निकला कि आत्मतत्त्व के नित्य होने पर पर्याय उत्पाद और व्यय धर्मयुक्त मानने युक्तियुक्त हैं। अर्थात् आत्मद्रव्य क्षणविनश्वर नहीं किन्तु पर्याय क्षणविनश्वर धर्म वाले हैं।

अत. आत्मतत्त्व शाश्वत, नित्य, ध्रुव, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अक्षय सुख और अनंत शक्ति वाला मानना न्याय संगत है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि—जब आत्म द्रव्य उक्त गुणों से युक्त है तो फिर यह दुःखी, रोगी, वियोगी, अज्ञानी, मूढ इत्यादि अवगुणों से युक्त क्यों है? इस प्रश्न के समाधान में कहा जाता है कि—यह सब आत्मा की पर्यायें कर्मों के कारण से हुई हैं। जिस प्रकार निर्मल जल में निकृष्ट पदार्थों के मिलने से जल की निर्मलता वा स्वच्छता आवरणयुक्त होजाती है तथा जिस प्रकार शुद्ध और पवित्र वस्त्र मल युक्त होने से अग्राह्य वा अप्रिय लगता है ठीक उसी प्रकार आत्म द्रव्य भी कर्मों के कारण निज गुणों को आच्छादित किए हुए है तथा उन कर्मों के आवरण से ही इस की उक्त दशाएँ प्रतीत होती हैं और फिर यह स्वयं भी अनुभव करने लगता है कि मैं दुःखी हूँ, रोगी हूँ, शोगी हूँ, इत्यादि।

परन्तु यह कर्मों का आवरण आत्मा के साथ तद्रात्म सम्बन्ध वाला नहीं है क्योंकि यदि इसका आत्मा के साथ तद्रात्म सम्बन्ध मान लिया जाए तब फिर उत्पाद और व्यय

रूप पर्यायें कदापि नहीं मानी जा सकती नहीं तो फिर आत्मा कर्मों से विमुक्त हो सकता है। जिस प्रकार आत्मा से ज्ञान या दर्शन पृथक् नहीं होसकते ठीक उसी प्रकार फिर कर्म भी आत्मा से पृथक् नहीं हो सकेंगे। जब कर्मों का पृथक् होना असिद्ध हुआ तो फिर निर्वाण की आशा करना तथा निर्वाण पद की प्राप्ति के लिये संयमादि क्रियाओं में पुरुषार्थ करना आकाश-कुसुम वत् सिद्ध होगा। अतएव आत्मा को कर्मों के आवरण से युक्त मानना ही युक्तियुक्त सिद्ध होता है नतु कर्मों से तदात्म सम्बन्ध वाला। जिस प्रकार वस्त्र मलयुक्त वा सुवर्ण मल युक्त होने पर फिर वे निमित्तों के मिलने पर शुद्ध हो सकते हैं ठीक उसी प्रकार आत्म द्रव्य भी संवर द्वारा नूतन कर्मों के आगमन का निरोध कर फिर निर्जरा द्वारा पुरातन कर्मों का क्षय कर निर्वाण पद की प्राप्ति कर लेता है। अब इस स्थान पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब निमित्तों के मिलने पर आत्म तत्त्व कर्मों से सर्वथा विमुक्त हो सकता है तो फिर अभव्य आत्मा मोक्ष के गमन योग्य क्यों नहीं माने जा सकते।

इस शंका के समाधान में कहा जाता है कि अभव्य आत्मा स्वभावता इस प्रकार के धर्म वाले होते हैं कि उनके अन्तःकरण से कर्म ग्रन्थि क्षीण नहीं होती तथा नाँही उनको मोक्ष प्राप्ति के लिए पूर्णतया सामग्री की प्राप्ति ही होती है। किन्तु जो भव्य आत्मायें हैं वे सामग्री के मिलने पर स्वकीय उद्देश्य की पूर्ति कर सकते हैं।

जिस प्रकार मूँग वा कुड़ुक मूग स्वाभाविकता से होते हैं ठीक उसी प्रकार भव्य और अभव्य आत्मायें भी स्वाभाविकता से माने जाते हैं नतु विभाविक पर्याय से। सो आत्मतत्त्व के

ठीक मानने पर आत्मा फिर आत्मदर्शी होसकता है। आत्म-दर्शी आत्मा ही फिर लोकालोक का पूर्णतया ज्ञाता होकर निर्वाण पद प्राप्त कर सकता है। इसलिये प्रत्येक आत्मा को योग्य है कि वह सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र द्वारा स्वकृत कर्मों को क्षय कर मोक्ष पद की प्राप्ति करे।

वास्तव में जो आत्मा कर्मों से सर्वथा विमुक्त है उसी का नाम मोक्षात्मा है तथा उसी का नाम निर्वाण पद है। फिर उसी आत्मा को सिद्ध, बुद्ध, अज, अजर, अमर, पारगत, परम्परागत, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सत्चिदानन्द, ईश्वर, परमात्मा, परमेश्वर इत्यादि नामों से कहा जाता है।

द्वितीय पाठ

(कर्मवाद)

आत्मा का अस्तित्व मात्र स्वीकार किये जाने पर ही आस्तिक कहा जा सकता है परन्तु अब इस स्थान पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब आत्मा ज्ञान दर्शन सुख और वीर्य युक्त है तो फिर यह दुःखित क्यों हो रहा है? इस प्रश्न के समाधान में कहा जाता है कि कर्मों के सम्बन्ध से आत्मा की दयनीय दशा हो रही है किन्तु जो आत्मा कर्मों से विमुक्त हैं वा मुक्त होगए हैं वे वास्तव में उक्त आत्मिक गुणों से युक्त हैं किन्तु जो सांसारिक आत्माएँ आठ प्रकार के कर्मों से युक्त हैं वे नाना प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःखों को अनुभव कर रहे हैं।

अब इस विषय में यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि कर्मों का सम्बन्ध आत्मा के साथ कब से हुआ? इस प्रश्न के समाधान में निम्नलिखित प्रश्नोत्तर पढ़ने चाहियें?

प्रश्न—क्या पहिले कर्म और पीछे जीव है।

उत्तर—नहीं। क्योंकि कर्म शब्द का वास्तव में यही अर्थ है कि जो किसी के द्वारा किया गया हो। जब कर्त्ता ही अभाव मान लिया तब फिर कर्म सब से पहिले किस प्रकार माना जा सकता है।

प्रश्न—तो क्या फिर पहिले जीव पीछे कर्म है?

उत्तर—नहीं। ऐसा मानने पर पहिले जीव शुद्ध है इस प्रकार मानना पड़ेगा। जब जीव सर्वथा शुद्ध मानलिया गया तो फिर इसको कर्म लगे क्यों? तथा इस प्रकार मानने पर अजीव अथवा सिद्धों को भी कर्म लग जाएँगे इसलिये यह पक्ष भी ग्राह्य नहीं है।

प्रश्न—तो क्या आत्मा और कर्म युगपत् समय में ही उत्पन्न हुए?

उत्तर—नहीं। क्योंकि इस प्रकार मानने पर आत्मा और कर्म दोनों ही उत्पत्ति धर्म वाले मानने पड़ेंगे। सो जब आत्मा और कर्म उत्पत्ति धर्म वाले हैं तब इन का विनाश भी मानना पड़ेगा। तथा फिर दोनों की उत्पत्ति में दोनों के पहले कारण क्या क्या थे क्योंकि कारण के मानने पर ही कार्य माना जा सकता है जैसे मिट्टी से घड़ा। इसलिये यह पक्ष भी ठीक नहीं प्रतीत होता।

प्रश्न—तो क्या फिर जीव सदा कर्मों से रहित ही है?

उत्तर—यह पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि जब जीव कर्मों से रहित ही मान लिया तो फिर इसको कर्म लगे क्यों? तथा कर्मों के बिना ये संसार में दुःख वा सुख किस प्रकार भोग सकता है। तथा यदि कर्म रहित भी आत्मा संसार चक्र में परिभ्रमण कर सकता है तो फिर मुक्तात्माएं भी संसार चक्र में परिभ्रमण करने वाली माननी पड़ेंगी। अतः जीव कर्मों से रहित भी नहीं माना जा सकता।

प्रश्न—तो फिर जीव और कर्म का स्वरूप किस प्रकार मानना चाहिए?

उत्तर—जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से है।

प्रश्न—जब अनादि काल से सम्बन्ध है तो फिर इस जीव का मोक्ष होना किस प्रकार माना जा सकता है। क्योंकि अनादि सम्बन्ध कभी छूटता नहीं। जैसे जीव के साथ चेतना धर्म का अनादि सम्बन्ध है।

उत्तर—तद्व्यक्तिरूप से अनादि सम्बन्ध नहीं है किन्तु प्रवाह (क्रम) रूप से अनादि सम्बन्ध है, जिस प्रकार सुवर्ण और मल का सम्बन्ध है। जिस प्रकार अग्नि आदि उपायों द्वारा सुवर्ण से मल पृथक् हो सकता है ठीक उसी प्रकार कर्मयुक्त आत्मा ज्ञानदर्शन और चारित्र द्वारा कर्मों से विमुक्त हो सकता है। तथा जिस प्रकार पिता और पुत्र का अनादि सम्बन्ध चला आता है या बीज और वृक्ष का अनादि सम्बन्ध चला आता है अथवा अंडक और कुक्कुटी का सम्बन्ध चला आता है ठीक उसी प्रकार काल से कर्म और आत्मा का भी अनादि संयोग चला आ रहा है।

जिस प्रकार संतति के न होने से पिता पुत्र का सम्बन्ध व्यवच्छिन्न हो जाता है बीज के न बोने से वृक्ष का अभाव हो जाता है ठीक उसी प्रकार आत्मा नूतन कर्मों के न करने से और पुरातन कर्मों के क्षय कर देने से कर्मों से विमुक्त हो जाता है।

निश्चय नय में कर्म सादि सान्त पदवाले हैं। जैसे—जब कर्म किये गए तब उनकी सादि और जब उनके फलों का अनुभव कर लिया तब कर्म शान्त हो गए। किन्तु प्रवाह रूप अर्थात् काल से कर्म अनादि हैं या यों मानलो कि—किये और आगे इस प्रकार के क्रम से कर्म अनादि हैं।

प्रश्न—क्या कर्म करने का स्वभाव जीव में है वा कर्म का कर्ता कर्म ही है ?

उत्तर—इस प्रश्न के उत्तर में दोनों नयों का अवलम्बन करना पड़ता है जैसे कि व्यवहारनय और निश्चयनय।

प्रश्न—दोनों नयों के मत में कर्म कर्ता कौन है ?

उत्तर—व्यवहारनय के मत में कर्म कर्ता जीव है, क्योंकि व्यवहार पक्ष में शुभाशुभ कर्मों का कर्ता जीव ही देखा जाता है किन्तु निश्चय के मत में कर्म का कर्ता कर्म ही है क्योंकि कर्म कर्ता वास्तव में आस्रव है—कर्मसत्ता होने पर ही उनकी आकर्षण शक्ति द्वारा नूतन कर्मों का संचार होता है। जिस प्रकार रज्जु का संकलन करते समय पिछले अंश के साथ नूतन अंश का सम्बन्ध किया जाता है तथा चरखे में जब सूत काता जाता है तब भी तंतुओं का परस्पर संकलन किया जाता है ठीक तद्वत् कर्मसत्ता के होने पर ही वह कर्मसत्ता नूतन कर्मों का आकर्षण कर लेती है। इस न्याय के अनुसार कर्म के करनेवाला वास्तव में कर्म ही है।

कर्म के दो भेद हैं। जैसे कि—द्रव्य कर्म और भाव कर्म। चतुःप्रदेशी जो कर्मों की वर्गणाएं हैं वह द्रव्य कर्म हैं किन्तु जो जीव के रागद्वेषादि युक्त भाव हैं वह वास्तव में भावकर्म हैं क्योंकि जीव की ज्ञान चेतना और अज्ञान चेतना वास्तव में दोनों ही चेतना भावकर्म के करनेवाली प्रतिपादन की गई हैं अत निश्चयनय के मत में कर्म कर्ता कर्म ही है।

इस स्थान पर यदि ऐसा कहा जाए कि—"अप्पा कत्ता विक-त्ताय" इस प्रकार सूत्र में आतमा कर्त्ता और विकर्ता (भोक्ता)

माना गया है इस का कारण क्या है ? इस शंका के समाधान में कहा जाता है कि शास्त्र में—उपचार नय के मत से आठ प्रकार से आत्मा वर्णन किये गए हैं। जैसे कि—

१ द्रव्यात्मा २ कषायात्मा ३ योगात्मा ४ उपयोगात्मा ५ ज्ञानात्मा ६ दर्शनात्मा ७ चारित्रात्मा और ८ बलवीर्यात्मा।

इस स्थान पर कर्म के करने वाले कषायात्मा और योगात्मा ही प्रतिपादन किये गए हैं शेष अन्य आत्मा। तथा जिस प्रकार कषायात्मा और योगात्मा द्रव्य कर्म के कर्त्ता माने गए हैं ठीक उसी प्रकार द्रव्यपुद्गल का भोक्ता भी वह ही आत्मा है तथा जिस प्रकार भावकर्म के कर्त्ता जीव के रागादि भाव हैं ठीक उसी प्रकार सुख दुःखादि के अनुभव करने वाले भी जीव के रागादि भाव ही हैं। परन्तु व्यवहारनय के मत से कर्म के करने वाला जीव ही है अजीव नहीं है। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि केवल जीव वा केवल अजीव कर्त्ता नहीं है किन्तु जब जीव और पुद्गल का सम्बन्ध है तब ही कर्त्ता कहा जाता है। जिस प्रकार कुम्भकार घट का कर्त्ता माना जाता है ठीक उसी प्रकार जीव के कर्मयुक्त अध्यवसाय कर्त्ता कहे जाते हैं। इसलिये सिद्धान्त यह निकला कि जीव और कर्म का संयोग प्रवाहरूप (क्रम) से अनादि मानना युक्तियुक्त है।

अब प्रश्न यह भी इस स्थान पर उपस्थित होता है कि कर्म सिद्धान्त मानने का मुख्योद्देश्य क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि कर्मवाद के मानने का मुख्योद्देश्य स्वावलम्बी बनना है तथा जो व्यक्ति प्रार्थना द्वारा अपने अशुभ कर्मों के फल से बचना चाहते हैं उनको शिक्षित करना है कि वह इस प्रकार की भूल में न पड़ें।

कर्मवाद में होने वाले आक्षेपों का प्रत्युत्तर प्रथम कर्म ग्रन्थ की प्रस्तावना में इस प्रकार से वर्णन किया गया है जैसे कि—

कर्मवाद पर होनेवाले आक्षेप
और
उन का समाधान

ईश्वर को कर्ता या प्रेरक मानने वाले कर्मवाद पर नीचे लिखे तीन आक्षेप करते हैं—

(१) घड़ी मकान आदि छोटी-मोटी चीज़ें यदि किसी व्यक्ति के द्वारा ही निर्मित होती है तो फिर सम्पूर्ण जगत् जो कार्य रूप दिखाई देता है उस का भी उत्पादक कोई अवश्य होना चाहिये।

(२) सभी प्राणी अच्छे या बुरे कर्म करते है पर कोई बुरे कर्म का फल नहीं चाहता और कर्म स्वयं जड़ होने से किसी चेतन की प्रेरणा के विना फल देने में असमर्थ हैं। इसलिये कर्मवादियों को भी मानना चाहिये कि ईश्वर ही प्राणियों को कर्मफल देता है।

(३) ईश्वर एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिये कि जो सदा से मुक्त हो और मुक्त जीवों की अपेक्षा भी जिस में कुछ विशेषता हो इसलिये कर्मवाद का यह मानना ठीक नहीं कि कर्म से छूट जाने पर सभी जीव मुक्त अर्थात् ईश्वर हो जाते हैं।

(१) पहले आक्षेप का समाधान—यह जगत् किसी समय नया नहीं बना—यह सदा ही से है। हाँ, इस में परिवर्त्तन हुआ करते हैं। अनेक परिवर्त्तन ऐसे होते हैं कि

जिन के होने में मनुष्य आदि प्राणिवर्ग के प्रयत्न की अपेक्षा देखी जाती है तथा ऐसे परिवर्तन भी होते हैं कि जिन में किसी के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रहती। जड़ तत्वों के तरह तरह के संयोगों से उष्णता वेग क्रिया आदि शक्तियों से बनते रहते हैं। उदाहरण थं—मिट्टी पत्थर आदि चीजों के इकट्ठा होने से छोटे मोटे टीले या पहाड़ियों का बन जाना इधर उधर से पानी का प्रवाह मिल जाने से उसका नदीरूप में बहना भाप का पानीरूप में बरसना और फिर से पानी का भापरूप बन जाना इत्यादि। इसलिये ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानने की कोई ज़रूरत नहीं।

(२) दूसरे आक्षेप का समाधान—प्राणी जैसा कर्म करते हैं वैसा फल उनको कर्म के द्वारा ही मिल जाता है। कर्म जड़ है और प्राणी अपने किये बुरे कर्म का फल नहीं चाहते—यह ठीक है पर यह ध्यान में रखना चाहिये कि जीव के चेतन के संग से कर्म में ऐसी शक्ति हो जाती है कि जिस से वह अपने अच्छे बुरे विपाकों को नियत समय पर जीव पर प्रकट करता है। कर्म वाद यह नहीं मानता कि चेतन के सम्बन्ध के सिवाय ही जड़ कर्म भोग देने में समर्थ है। वह इतना ही कहता है कि फल देने के लिये ईश्वर रूप चेतन की प्रेरणा मानने की कोई जरूरत नहीं। क्योंकि—सभी जीव चेतन हैं वे जैसा कर्म करते हैं उसके अनुसार उनकी बुद्धि वैसी ही बन जाती है जिससे बुरे कर्म के फल की इच्छा न रहने पर भी वे ऐसा काम कर बैठते हैं कि जिससे उनको अपने कर्मानुसार फल मिल जाता है। कर्म करना एक बात है और फल को न चाहना दूसरी बात। केवल चाहना न होने ही से किये कर्म का

फल मिलने से रुक नहीं सकता। सामग्री इकट्ठी होगई फिर कार्य आप ही आप होने लगता है। उदाहरणार्थ—एक मनुष्य धूप में खड़ा है, गर्म चीज खाता है और चाहता है कि प्यास न लगे सो क्या किसी तरह प्यास रुक सकती है? ईश्वर-कर्तृत्ववादी कहते हैं कि ईश्वर की इच्छा से प्रेरित होकर कर्म अपना अपना फल प्राणियों पर प्रकट करते हैं। इस पर कर्मवादी कहते हैं कि कर्म करने के समय परिणामानुसार जीव में ऐसे संस्कार पड़ जाते हैं कि जिनसे प्रेरित होकर कर्त्ता जीव कर्म के फल को आप ही भोगते हैं और कर्म उन पर अपने फल को आप ही प्रकट करते हैं।

(३) तीसरे आक्षेप का समाधान—ईश्वर चेतन है और जीव भी चेतन, फिर उन में अन्तर ही क्या है? हाँ, अन्तर इतना हो सकता है कि जीव की सभी शक्तियाँ आवरणों से घिरी हुई हैं और ईश्वर की नहीं। पर जिस समय जीव अपने आवरणों को हटा देता है उस समय तो उसकी सभी शक्तियाँ पूर्णरूप में प्रकाशित हो जाती हैं फिर जीव और ईश्वर में विषमता किस बात की? विषमता का कारण जो औपाधिक कर्म है, उसके हट जाने पर भी यदि विषमता बनी रही तो फिर मुक्ति ही क्या है? विषमता का राज्य ससार तक ही परिमित है आगे नहीं। इस लिये कर्मवाद के अनुसार यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि—सभी मुक्त जीव ईश्वर ही हैं। केवल विश्वास के बल पर यह कहना कि ईश्वर एक ही होना चाहिये उचित नहीं। सभी आत्मा तात्त्विक दृष्टि से ईश्वर ही हैं। केवल बन्धन के कारण वे छोटे मोटे जीव रूप में देखे

जाते हैं—यह सिद्धान्त सभी को अपना ईश्वरत्व प्रकट करने के लिये पूर्ण बल देता है।

सो उक्त कथन से स्पष्ट ही सिद्ध हो गया कि—कर्म सिद्धान्त का मानना युक्तियुक्त है तथा कर्मों के कारण से जीव सुखी वा दुःखी दृष्टि गोचर होते हैं। जैसे कि श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के मुखारविन्द से निकले हुए—

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला भवंति।
दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णा फला भवंति॥

ये पवित्र वाक्य स्मरण कराते हैं कि शुभ कर्मों के शुभ ही फल होते हैं और अशुभ कर्मों के अशुभ ही फल होते हैं। अतः कर्म रूप ससार में कर्म से निवृत्ति रूप क्रियाओं द्वारा मोक्ष पद की प्राप्ति करनी चाहिए।

आत्मा निजानन्द का उसी समय अनुभव कर सकता है जब कि वह कर्म कलङ्क स छूट जाए। जैसे जल उसी समय स्वच्छता वा निर्मलता प्राप्त कर सकता है जब कि वह मल से रहित हो जाए। सो निजानन्द की प्राप्ति के लिये—सम्यग् दर्शन सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र से निज आत्मा को विभूषित करना चाहिए।

———

तृतीय पाठ

(कर्मवाद)

आत्मा एक चेतन पदार्थ है, अनंत शक्तियों का समूह है, सबका उपास्य है और प्राणिमात्र का रक्षक है किन्तु कर्मों की उपाधि से युक्त होकर और निज स्वरूप को भूलकर नाना प्रकार के सांसारिक सुख वा दुःखों का अनुभव कर रहा है किन्तु धर्मयुक्त शुभ कर्म मोक्ष पद की प्राप्ति के लिये सहायक बनता है और पाप कर्म मोक्ष पद की प्राप्ति में बहुत से विघ्न उपस्थित करता है अत धर्मयुक्त शुभ कर्म व्यवहार पक्ष में क्षेय होने पर भी किसी नय के मत से उपादेय रूप है। जिस प्रकार नद में नाव क्षेय रूप न होकर उपादेय रूप होती है ठीक उसी प्रकार धर्म युक्त शुभ कर्म भी किसी नय के मत से उपादेय रूप माना जाता है। जैसे कि मनुष्यत्व भाव मोक्षाधिकारी माना गया है नतु पशुत्वादि सो व्यवहार पक्ष में भी कर्म सिद्धान्त स्वीकार करना योग्यता का आदर्श है। कर्म ग्रंथ की प्रस्तावना में लिखा है—

व्यवहार और परमार्थ में कर्मवाद की उपयोगिता।

इस लोक से या परलोक से सम्बन्ध रखने वाले किसी काम में जब मनुष्य प्रवृत्ति करता है तब यह तो असंभव ही है कि उसे किसी न किसी विघ्न का सामना करना न पड़े। सब काम में सबको थोड़े बहुत प्रमाण में शारीरिक या मान-

सिक विघ्न आते ही हैं। ऐसी दशा में देखा जाता है कि बहुत लोग घबरा हो जाते हैं। घबरा कर दूसरों को दूषित ठहरा कर कोसते हैं। उन्हें इस तरह विपत्ति के समय एक तरफ तो बाहरी दुश्मन बढ़ जाते हैं दूसरी तरफ बुद्धि अस्थिर होने से अपनी भूल दिखाई नहीं देती। अंत का मनुष्य व्यग्रता के कारण अपने आरम्भ किये हुए सब कामों को छोड़ बैठता है और प्रबल तथा शक्ति के साथ न्याय का भी गला घोटता है इस लिये उस समय उस मनुष्य के लिये ऐसे गुरु की आवश्यकता है कि जो उसके बुद्धि नेत्र को स्थिर कर उसे यह देखने में मदद पहुँचाये कि उपस्थित विघ्न का असली कारण क्या है ? जहाँ तक बुद्धिमानों ने विचार किया है यही पता चला है कि—ऐसा गुरु कर्म का सिद्धान्त ही है। मनुष्य को यह विश्वास करना चाहिए कि—चाहे मैं जान सकूं या नहीं लेकिन मेरे विघ्न का भीतरी व असली कारण मुझ में ही होना चाहिए। जिस हृदय भूमि पर विघ्न वृक्ष उगता है उसका बीज भी उसी भूमिका में बोया हुआ होना चाहिये। पवन पानी आदि बाहरी निमित्तों के समान उस विघ्न वृक्ष को अंकुरित होने में कदाचित् अन्य कोई व्यक्ति निमित्त हो सकता है पर वह विघ्न का बीज नहीं ऐसा विश्वास मनुष्य के बुद्धि-नेत्र को स्थिर कर देता है जिससे वह अड़चन के असली कारण को अपने में देखकर न तो उसके लिये दूसरे को कोसता है और न घबड़ाता है। ऐसे विश्वास वाले मनुष्य के हृदय में इतना बल प्रकट होता है कि जिससे साधारण संकट के समय विक्षिप्त होने वाला भी बड़ी बड़ी विपत्तियों को कुछ नहीं समझता और अपने व्यावहारिक या पारमार्थिक काम को पूरा ही कर डालता है।

मनुष्य को किसी भी काम की सफलता के लिये परिपूर्ण हार्दिक शांति प्राप्त करनी चाहिए जो एक मात्र कर्म के सिद्धान्त ही से हो सकती है। आँधी और तूफ़ान में जैसे हिमालय का शिखर स्थिर रहता है वैसे ही अनेक प्रतिकूलताओं के समय शान्त भाव में स्थिर रहना यही सच्चा मनुष्यत्व है, जो कि भूतकाल के अनुभवों से शिक्षा देकर मनुष्य को अपनी भावी भलाई के लिये तैयार करता है। परन्तु यह निश्चित है कि ऐसा मनुष्यत्व कर्म के सिद्धान्त पर विश्वास किये बिना कभी आ नहीं सकता। इससे यही कहना पड़ता है कि क्या व्यवहार क्या परमार्थ सब जगह कर्म का सिद्धान्त एक-सा उपयोगी है। कर्म सिद्धान्त की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में डा० मैक्समूलर का जो विचार है वह जानने योग्य है। वे कहते हैं— यह तो निश्चित है कि कर्म मत का असर मनुष्य जीवन पर बेहद हुआ है। यदि किसी मनुष्य को यह मालूम पड़े कि वर्त्तमान अपराध के सिवाय भी मुझको जो कुछ भोगना पड़ता है, वह मेरे पूर्व जन्म के कर्म का ही फल है तो वह पुराने कर्ज के चुकाने वाले मनुष्य की तरह शान्त भाव से उस कष्ट को सहन कर लेगा। यदि वह मनुष्य इतना भी जानता हो कि सहन शीलता से पुराना कर्जा चुकाया जा सकता है तथा उसी से भविष्यत् के लिये नीति की समृद्धि इकट्ठी की जा सकती है तो उसको भलाई के रास्ते पर चलने की प्रेरणा आप ही आप होगी। भला या बुरा कोई भी कर्म नष्ट नहीं होता यह नीति शास्त्र का मत और पदार्थ शास्त्र का बल सरक्षण सम्बन्धी मत समान ही है। दोनों मतों का आशय इतना ही है कि किसी का नाश नहीं होता किसी भी नीति

विषय के अस्तित्व के सम्बन्ध में कितनी ही शङ्कायें क्यों न हों पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि कर्म मत सब से अधिक जगह माना गया है उससे लाखों मनुष्यों के कष्ट कम हुए हैं और उसी मत से मनुष्यों को वर्तमान संकट सहने की शक्ति पैदा करने तथा भविष्यत् जीवन को सुधारने में उत्तेजन मिला है। इस कथन से यह स्पष्ट ही सिद्ध हो जाता है कि कर्म सिद्धान्त का मानना युक्तियुक्त है। आत्मवाद के मानने वाले व्यक्तियों को कर्मवाद अवश्य ही मानना पड़ता है कारण कि कर्मवाद का स्वीकार किये बिना आत्मा का संसारचक्र में परिभ्रमण करना सिद्ध हो ही नहीं सकता। कर्मों से ही शरीर रचना तथा इन्द्रियादि का उत्पन्न होना सिद्ध होता है। जिस प्रकार एक दाड़िम (अनार) के फल में क्या ही सुन्दर दाने चुने हुए होते हैं उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा के शरीरादि की रचना सुन्दर या असुन्दर उसके कर्मों के अनुसार ही होती है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि दाड़िम के फल में दाने कौन लगातार लगाता है? और उनमें नाना प्रकार के रंगों की रचना कौन करता है? तथा मयूर के पंखों को चित्रित कौन करता है? इस प्रश्न के समाधान में कहा जाता है कि दाड़िम फल में रहने वाले बीज के जीवों या मयूर के जीव का जिस प्रकार नाम कर्म बंधन किया हुआ होता है ठीक उसी प्रकार उनके शरीरों की सुन्दर या असुन्दर रचना हो जाती है। ये सब बातें कर्म सिद्धान्त के अध्ययन करने से भली भाँति जानी जा सकती हैं।

प्रथम कर्म ग्रंथ की प्रस्तावना में लिखा है कि—

कर्म शास्त्र में शरीर भाषा इन्द्रिय आदि पर विचार।

शरीर जिन तत्त्वों से बनता है वे तत्त्व, शरीर के सूक्ष्म-स्थूल आदि प्रकार, उसकी रचना, उसका वृद्धि क्रम ह्रास क्रम आदि अनेक अंशों को लेकर शरीर का विचार शरीर शास्त्र में किया जाता है, इसी से उस शास्त्र का वास्तविक गौरव है। वह गौरव कर्म-शास्त्र को भी प्राप्त है। क्योंकि उसमें भी प्रसंगवश ऐसी अनेक बातों का वर्णन किया गया है जो कि शरीर से सम्बन्ध रखती हैं। शरीर सम्बन्धिनी ये बातें पुरातन पद्धति से कही हुई हैं सही परन्तु इस से उनका महत्त्व कम नहीं। क्योंकि सभी वर्णन सदा नये नहीं रहते। आज जो विषय नया दिखाई देता है वह थोड़े दिनों के बाद पुराना हो जायगा। वस्तुतः काल के बीतने से किसी में पुरानापन नहीं आता। पुरानापन आता है उसका विचार न करने से। सामयिक पद्धति से विचार करने पर पुरातन शोधों में भी नवीनता सी आ जाती है, इसलिये अति पुरातन कर्म शास्त्र में भी शरीर की बनावट, उसके प्रकार, उसकी मजबूती और उसके कारण भूत तत्त्वों पर जो कुछ थोड़े बहुत विचार पाये जाते हैं, वे उस शास्त्र की यथार्थ महत्ता के चिह्न हैं।

इसी प्रकार कर्म शास्त्र में भाषा के सम्बन्ध में तथा इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी मनोरंजक व विचारणीय चर्चा मिलती है। भाषा किस तत्त्व से बनती है? उसके बनने में कितना समय लगता है? उसकी रचना के लिये अपनी वीर्य शक्ति का प्रयोग आत्मा किस तरह और किस साधन द्वारा करता है? भाषा की सत्यता तथा असत्यता का आधार क्या है? कौन कौन प्राणी भाषा बोल सकते हैं? किस किस जाति के प्राणी में किस किस प्रकार की भाषा बोलने की शक्ति है? इत्यादि अनेक

मन भाषा से सम्बन्ध रखते हैं। उनका महत्वपूर्ण व गंभीर विचार कर्मशास्त्र में विशद रीति से किया हुआ मिलता है।

इसी प्रकार इन्द्रियाँ कितनी हैं? कैसी हैं? उनके कैसे कैसे भेद तथा कैसी कैसी शक्तियाँ हैं? किस किस प्राणी को कितनी कितनी इन्द्रियाँ प्राप्त हैं? बाह्य और आभ्यन्तरिक इन्द्रियों का आपस में क्या सम्बन्ध है? कैसा आकार है? इत्यादि अनेक प्रकार का इंद्रियों से सम्बन्ध रखने वाला विचार कर्मशास्त्र में पाया जाता है इत्यादि।

उक्त कथन से शारीरिक रचना सर्व कर्मों के कारण से ही बनती है। कारण कि कर्म के होने से ही आत्मा सांसारिक कहलाता है। क्योंकि जो आत्माएँ कर्मबन्धन से विमुक्त हो गए हैं वे अशरीरी सिद्ध बुद्ध, अजर अमर, पारंगत वा परम्परागत इत्यादि नामों से कहे जाते हैं। इतना ही नहीं किन्तु वे जगत् उपास्य हैं।

अतः कर्मों से छूटने के लिये प्रयत्नशील बनना चाहिए जिससे आत्मदर्शी बनने का सौभाग्य प्राप्त होसके। कर्म विषय का ज्ञान भली भाँति करना चाहिए क्योंकि कर्म सिद्धान्त प्रायः दर्पण के तुल्य है। जिस प्रकार दर्पण पर निजवदन की आकृति यथावत् पड़ती है ठीक इसी प्रकार जो कर्म किया जाता है उस का फल उसी रूप में जीव को अनुभव करना पड़ता है। अतः कर्म क्षय का फल मोक्ष है न तु कर्म फल का नाम मोक्ष।

चतुर्थ पाठ

(कर्मवाद)

जब आत्मा कर्मों से सर्वथा विमुक्त हो जाता है तब वह स्वकीय आनन्द का अनुभव करने वाला होता है। जिस प्रकार मदिरा शुद्ध चेतना पर आवरण किए हुए होती है ठीक उसी प्रकार मोहनीय कर्म द्वारा आत्मिक सुखों पर आवरण होरहा है। अब इस स्थान पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या कर्म सिद्धान्त का अध्यात्मवाद पर भी प्रभाव पड़ता है? इस प्रश्न के समाधान में कहा जाता है कि हाँ, अवश्य पड़ता है। वास्तव में कर्मों के ही आवरण ने आत्मिक निजानन्द को ढाँपा हुआ है। जैसे कि—कर्मग्रंथ की प्रस्तावना में लिखा है कि—

कर्म शास्त्र का अध्यात्मशास्त्रपन।

अध्यात्म शास्त्र का उद्देश्य आत्मा सम्बन्धी विषयों पर विचार करना है। अतएव उसको आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप का निरूपण करने के पहले उसके व्यावहारिक स्वरूप का भी कथन करना पड़ता है। ऐसा न करने से यह प्रश्न सहज ही में उठता है कि मनुष्य, पशु, पक्षी, सुखी, दुःखी आदि आत्मा की दृश्यमान अवस्थाओं का स्वरूप ठीक ठीक जाने विना उसके-पार का स्वरूप जानने की योग्यता दृष्टि को कैसे प्राप्त हो-सकती है? इसके सिवाय यह भी प्रश्न होता है कि दृश्य-

मान वर्तमान अवस्था में ही आत्मा का स्वभाव क्यों नहीं है? इसलिये अध्यात्म शास्त्र को आवश्यक है कि वह पहले आत्मा के दृश्यमान स्वरूप की उपपत्ति दिखाकर आगे बढ़े। यही काम कर्मशास्त्र ने किया है। वह दृश्यमान सब अवस्थाओं को कर्मजन्य बतलाकर उनसे आत्मा के स्वभाव की जुदाई की सूचना करता है। इस दृष्टि से कर्मशास्त्र अध्यात्मशास्त्र का ही एक अंश है। यदि अध्यात्म शास्त्र का उद्देश्य आत्मा के शुद्ध स्वरूप का वर्णन करना ही माना जाय तब भी कर्म-शास्त्र को उसका प्रथम सोपान मानना ही पड़ता है। इसका कारण यह है कि जब तक अनुभव में आने वाली वर्तमान अवस्थाओं के साथ आत्मा के सम्बन्ध का सच्चा खुलासा न हो तब तक दृष्टि आगे कैसे बढ़ सकती है? जब यह ज्ञात हो जाता है कि ऊपर के सब रूप मायिक या वैभाविक हैं तब स्वयमेव जिज्ञासा होती है कि आत्मा का सच्चा स्वरूप क्या है? इसी समय आत्मा के केवल शुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन सार्थक होता है।

परमात्मा के साथ आत्मा का सम्बन्ध दिखाना भी अध्यात्म शास्त्र का विषय है। इस सम्बन्ध में उपनिषदों में या गीता में जैसे विचार पाए जाते हैं वैसे ही कर्मशास्त्र में भी। कर्मशास्त्र कहता है कि आत्मा ही परमात्मा जीव ही ईश्वर है। आत्मा का परमात्मा में मिल जाना, इसका मतलब यह है कि आत्मा का अपने कर्मावृत परमात्मभाव को व्यक्त करके परमात्म रूप हो जाना। जीव परमात्मा का अंश है इसका मतलब कर्म शास्त्र की दृष्टि से यह है कि जीव में जितनी ज्ञानकला व्यक्त है वह परिपूर्ण परन्तु अव्यक्त (आवृत) चेतनाचन्द्रिका का एक

अंश मात्र है। कर्म का आवरण हट जाने से चेतना परिपूर्ण रूप में प्रकट होती है, उसी को ईश्वर भाव या ईश्वरत्व की प्राप्ति समझना चाहिये।

धन, शरीर आदि बाह्यविभूतियों में आत्मबुद्धि करना अर्थात् जड़ में ममता करना बाह्यदृष्टि है। इस अभेद-भ्रम को बहिरात्मभाव सिद्ध करके उसे छोड़ने की शिक्षा कर्म शास्त्र देता है। जिनके संस्कार केवल बहिरात्मभावमय हो गए हैं। उन्हें कर्म-शास्त्र का उपदेश भले ही रुचिकर न हो परन्तु इससे उसकी सचाई में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ सकता। शरीर और आत्मा के अभेद-भ्रम को दूर कराकर उसके भेद ज्ञान को विवेक-ख्याति को कर्म शास्त्र प्रकटाता है। इसी समय से अन्तर्दृष्टि खुलती है। अन्तर्दृष्टि के द्वारा अपने में वर्त्तमान परमात्मभाव देखा जाता है। परमात्म-भाव को देखकर उसे पूर्णतया अनुभव में लाना—यह जीव का शिव (ब्रह्म) होना है। इसी ब्रह्मभाव को व्यक्त कराने का काम कुछ और ढँग से ही कर्मशास्त्र ने अपने उपर ले रक्खा है, क्योंकि वह आत्मा को अभेद भ्रम से भेद ज्ञान की तरफ झुकाकर फिर स्वाभाविक अभेद ज्ञान की उच्च भूमिका की ओर खींचता है। बस, उसका कर्त्तव्य क्षेत्र उतना ही है। साथ ही योग शास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य अंश का वर्णन भी उसमें मिल जाता है। इसलिये, यह स्पष्ट है कि कर्मशास्त्र अनेक प्रकार के आध्यात्मिक शास्त्रीय विचारों की खान है। वही उसका महत्त्व है।

बहुत लोगों को प्रकृतियों की गिनती, संख्या की बहुलता आदि से उस पर रुचि नहीं होती। परन्तु इस में कर्म शास्त्र का क्या दोष ? गणित, पदार्थ विज्ञान आदि गूढ व

रसपूर्ण विषयों पर स्थूल दर्शी लोगों की दृष्टि नहीं जमती और उन्हें रस नहीं आता इसमें उन विषयों का क्या दोष ! दोष है समझने वालों की बुद्धि का। किसी भी विषय के अभ्यासी को उस विषय में रस तभी आता है जब कि वह उसमें तह तक उतर जाय। इस कथन से पूर्णतया सिद्ध हो गया है कि कर्मवाद या कर्मसिद्धान्त का अध्यात्मवाद के साथ अतिनिकट सम्बन्ध है। अध्यात्म प्रकाश तभी हो सकता है जब कर्मवाद का पूर्णतया बोध होजाए। कारण कि जबतक कर्म दूर न हो जावें तब तक अध्यात्म प्रकाश हो ही नहीं सकता।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वास्तव में कर्म का स्वरूप क्या है ? इस प्रश्न के समाधान में कहा जाता है कि मिथ्यात्व कषाय आदि कारणों से जीव के द्वारा जो किया जाता है वही कर्म कहलाता है। कर्म का यह लक्षण उपर्युक्त भावकर्म द्रव्यकर्म दोनों में घटित होता है, क्योंकि भावकर्म आत्मा का—जीव का वैभाविक परिणाम है। इससे उसका उपादान रूप कर्ता जीव ही है और द्रव्य जो कि कार्मण जाति के सूक्ष्मपुद्गलों का विकार है उसका भी कर्ता निमित्त रूप से जीव ही है। भाव कर्म के होने में द्रव्यकर्म निमित्त है और द्रव्य में भावकर्म निमित्त। इस प्रकार उन दोनों का आपस में बीजाङ्कुर की तरह कार्यकारण-भाव सम्बन्ध है।

पञ्चम पाठ

(कर्मवाद)

आत्मा के अस्तित्व होने पर ही कर्मवाद का अस्तित्व माना जा सकता है क्योंकि जब आत्मा का ही अभाव हो तब कर्म का सद्भाव किस प्रकार माना जा सकता है। जैसे कि– वृक्ष के अभाव होने पर शाखा प्रतिशाखा वा पत्रादि का अभाव स्वयं ही हो जाता है ठीक उसी प्रकार आत्मा के अभाव मानने पर कर्मों का असद्भाव स्वयमेव सिद्ध होता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आत्मा का अस्तित्व किन किन प्रमाणों से सिद्ध है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि प्रथम कर्म ग्रंथ की प्रस्तावना में इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार से किया गया है। जैसे कि—

आत्मा स्वतंत्र तत्त्व है।

कर्म के सम्बन्ध में ऊपर जो कुछ कहा गया है उसकी ठीक ठीक संगति तभी हो सकती है जब कि आत्मा को जड़ से अलग तत्त्व माना जाए। आत्मा का स्वतंत्र-अस्तित्व नीचे लिखे सात प्रमाणों से माना जा सकता है—

(१) स्वसंवेदनरूप साधक प्रमाण (२) बाधक प्रमाण का अभाव (३) निषेध से निषेध कर्ता की सिद्धि (४) तर्क (५) शास्त्र व महात्माओं का प्रमाण (६) आधुनिक विद्वानों की सम्मति और (७) जन्म।

(१) स्वसंवेदन रूप साधक प्रमाण।

यद्यपि सभी देहधारी अज्ञान के आवरण से न्यूनाधिक रूप में घिरे हुए हैं और इससे वे अपने ही अस्तित्व का संदेह करते हैं तथापि जिस समय उनकी बुद्धि थोड़ी सी भी स्थिर हो जाती है उस समय उनको यह स्फुरणा होती है कि 'मैं हूं'। यह स्फुरणा कभी नहीं होती कि 'मैं नहीं हूं'। इससे उलटा यह भी निश्चय होता है कि 'मैं नहीं हूँ' यह बात नहीं। इसी बात को श्रीशंकराचार्य ने भी कहा है—

सर्वो ह्यात्माऽस्ति त्वं प्रत्येति न नाहमस्मीति

(ब्रह्म० भाष्य० १।१।१)

उसी निश्चय को ही स्वसंवेदन (आत्मनिश्चय) कहते हैं।

(२) बाधक प्रमाण का अभाव।

ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जो आत्मा के अस्तित्व का बाध (निषेध) करता हो। इस पर यद्यपि यह शंका हो सकती है कि मन और इन्द्रियों के द्वारा आत्मा का ग्रहण न होना ही उसका बाध है। परंतु इसका समाधान सहज है। किसी विषय का बाधक प्रमाण वही माना जाता है जो उस विषय को जानने की शक्ति रखता हो और अन्य सब सामग्री मौजूद होने पर उसे ग्रहण कर न सके। उदाहरणार्थ—आँख मिट्टी के घड़े को देख सकती है पर जिस समय प्रकाश, समीपता आदि सामग्री रहने पर भी वह मिट्टी के घड़े को न देखे उस समय उसे उस विषय का बाधक समझना चाहिए। इन्द्रियाँ सभी भौतिक हैं उनकी ग्रहण शक्ति बहुत परिमित है वे भौतिक पदार्थों में से भी स्थूल निकटवर्ती और नियत विषयों को ही ऊपर ऊपर से जान सकती हैं। सूक्ष्म दर्शक यंत्र आदि

साधनों की भी वही दशा है, वे अभी तक भौतिक प्रदेशों में ही कार्यकारी सिद्ध हुए हैं, इसलिये उनका अभौतिक—अमूर्त्त आत्मा को जान न सकना बाध नहीं कहा जा सकता। मन भौतिक होने पर भी इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक सामर्थ्यवान् है सही पर जब वह इंद्रियों का दास बन जाता है—एक के पीछे एक इस तरह अनेक विषयों में बंदर के समान दौड़ लगाता फिरता है तब उसमें राजस व तामस वृत्तियाँ पैदा होती हैं सात्विक भाव प्रकट होने नहीं पाता। यही बात गीता में भी कही है.—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाऽम्भसि॥

(अ० २ श्लोक ६७)

इसलिये चंचल मन में आत्मा की स्फुरणा भी नहीं होती। यह देखी हुई बात है कि प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की शक्ति जिस दर्पण में वर्त्तमान है वह भी जब मलिन हो जाता है तब उस में किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब व्यक्त नहीं होता। इससे यह बात सिद्ध है कि बाहरी विषयों में दौड़ लगाने वाले अस्थिर मन से आत्मा का ग्रहण न होना उसका बाध नहीं है किन्तु मन की अशक्ति मात्र है।

इस प्रकार विचार करने से यह सिद्ध होता है कि मन, इन्द्रियाँ, सूक्ष्म दर्शक यन्त्र आदि सभी साधन भौतिक होने से आत्मा का निषेध करने की शक्ति नहीं रखते।

(२) निषेध से निषेध कर्ता की सिद्धि।

कुछ लोग यह कहते हैं कि हमें आत्मा का निश्चय नहीं होता, बल्कि कभी कभी उसके अभाव की स्फुरणा हो आती

है। क्योंकि किसी समय मन में ऐसी कल्पना होने लगती है कि मैं नहीं हूँ इत्यादि। परन्तु उनको जानना चाहिये कि उनकी यह कल्पना ही आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है। क्योंकि यदि आत्मा ही न हो तो ऐसी कल्पना का प्रादुर्भाव कैसे? जो निषेध कर रहा है, वह स्वयं ही आत्मा है। इस बात को श्रीशंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में भी कहा है—

य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम्।

(अ० २ पा० ३ अ० १ सू० ७)

(४) तर्क।

यह भी आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व की पुष्टि करता है। वह कहता है कि जगत् में सभी पदार्थों का विरोधी कोई न कोई देखा जाता है जैसे अन्धकार का विरोधी प्रकाश उष्णता का विरोधी शैत्य सुख का विरोधी दुःख। इसी तरह जड़ पदार्थ का विरोधी भी कोई तत्त्व होना चाहिये। जो तत्त्व जड़ का विरोधी है वही चेतन आत्मा है।

इस पर यह तर्क किया जा सकता है कि जड़ चेतन—ये दो स्वतंत्र विरोधी तत्त्व मानने उचित नहीं किन्तु किसी एक ही प्रकार के मूल पदार्थ में जड़त्व व चेतनत्व—ये दोनों शक्तियां माननी उचित हैं। जिस समय चेतनत्व शक्ति का विकास होने लगता है—उसकी व्यक्ति होती है, उस समय जड़त्व शक्ति का तिरोभाव रहता है। सभी चेतन शक्तिवाले प्राणी जड़ पदार्थ के विकास के ही परिणाम हैं वे जड़ के अतिरिक्त अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते किन्तु जड़त्व शक्ति का तिरोभाव होने से जीवधारी रूप में दिखाई देते हैं। ऐसा ही मन्तव्य हेकल आदि अनेक पश्चिमीय विद्वानों का भी है।

इस प्रतिकूल तर्क का निवारण अशक्य नहीं है। यह देखा जाता है कि किसी वस्तु में जब एक शक्ति का प्रादुर्भाव होता है तब उस में दूसरी विरोधिनी शक्ति का तिरोभाव हो जाता है। परन्तु जो शक्ति तिरोहित हो जाती है वह सदा के लिये नहीं, किसी समय अनुकूल निमित्त मिलने पर फिर भी उस का प्रादुर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार जो शक्ति प्रादुर्भूत हुई होती है वह सदा के लिये नहीं, प्रतिकूल निमित्त मिलते ही उसका तिरोभाव हो जाता है। उदाहरणार्थ—पानी के अणुओं को लीजिये। वे गरमी पाते ही भापरूप में परिणत हो जाते हैं। फिर शैत्य आदि निमित्त मिलते ही पानीरूप में वरसते हैं। अधिक शीतत्व होने पर द्रव्यत्वरूप को छोड़ वर्फरूप में घनत्व को प्राप्त कर लेते हैं।

इसी तरह यदि जड़त्व, चेतनत्व-इन दोनों शक्तियों को किसी एक मूल तत्त्वगत मान लें तो विकासवाद ठहर ही न सकेगा। क्योंकि चेतनत्व शक्ति के विकास के कारण जो आज चेतन (प्राणी) समझे जाते हैं वे ही सब जड़त्व शक्ति का विकास होने पर फिर जड़ हो जायगे। जो पाषाण आदि पदार्थ आज जड़रूप में दिखाई देते हैं वे कभी चेतन हो जायंगे और चेतन रूप से दिखाई देने वाले मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणी कभी जड़रूप भी हो जायँगे। अतएव एक पदार्थ में जड़त्व चेतनत्व-इन दोनों विरोधिनी शक्तियों को न मानकर जड़ चेतन दो स्वतंत्र तत्त्वों को ही मानना ठीक है।

(५) शास्त्र व महात्माओं का प्रामाण्य।

अनेक पुरातन शास्त्र भी आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व का प्रतिपादन करते हैं। जिन शास्त्रकारों ने वड़ी शांति व गंभीरता

के साथ आत्मा के विषय में खोज को उनके शास्त्रगत अनुभव को यदि हम बिना अनुभव किये ही चपलता से योंही हँसी में उड़ा दें तो इस में क्षुद्रता किस की ? आजकल भी अनेक महात्मा ऐसे देखे जाते हैं कि जिन्होंने अपना जीवन पवित्रतापूर्वक आत्मा के विचार में ही बिताया। उनके शुद्ध अनुभव को हम यदि अपने भ्रान्त अनुभव के बल पर न मानें तो इस में न्यूनता हमारी ही है। पुरातन शास्त्र और वर्तमान अनुभवी महात्मा निःस्वार्थ भाव से आत्मा के अस्तित्व को बतला रहे हैं।

(१) आधुनिक वैज्ञानिकों की सम्मति।

आजकल लोग प्रत्येक विषय का विवेचन करने के लिये बहुधा वैज्ञानिक विद्वानों का विचार जानना चाहते हैं। यह ठीक है कि अनेक पश्चिमीय भौतिक-विज्ञान विशारद आत्मा को नहीं मानते या उसके विषय में संदिग्ध हैं परन्तु ऐसे भी अनेक धुरन्धर वैज्ञानिक हैं कि जिन्होंने अपनी सारी आयु भौतिक खोज में बिताई है पर जिन की दृष्टि भूतों से परे आत्म तत्त्व की ओर भी पहुँची है उन में से सर ऑलीवर लॉज और लॉर्ड केलविन का नाम वैज्ञानिक संसार में विख्यात है। ये दोनों विद्वान् चेतन तत्त्व को जड़ से जुदा मानने के पक्ष में हैं। उन्होंने जड़वादियों की युक्तियों का खंडन बड़ी सावधानी व विचारसरणि से किया है। उन का मन्तव्य है कि चेतन के स्वतन्त्र अस्तित्व के सिवाय जीवधारियों के देह की विलक्षण रचना किसी तरह बन नहीं सकती। वे और भौतिकवादियों की तरह मस्तिष्क को ज्ञान

की जड़ नहीं समझते किन्तु उसे ज्ञान के आविर्भाव का साधनमात्र समझते हैं।*

डा० जगदीश बोस, जिन्होंने सारे वैज्ञानिक संसार में नाम पाया है, उन की खोज से यहां तक निश्चय हो गया है कि वनस्पतियों में भी स्मरणशक्ति विद्यमान है। बोस महाशय ने अपने आविष्कारों से स्वतन्त्र आत्म-तत्त्व मानने के लिये वैज्ञानिक संसार को मजबूर किया है।

(७) पुनर्जन्म।

नीचे लिखे अनेक प्रश्न ऐसे हैं कि जिनका पूरा समाधान पुनर्जन्म के माने विना नहीं हो सकता। गर्भ के आरम्भ से लेकर जन्म तक बालक को जो जो कष्ट भोगने पड़ते हैं वे सब उस बालक की कृति के परिणाम है या उस के माता पिता की कृति के? उन्हें बालक की उस जन्म की कृति का परिणाम नहीं कह सकते, क्योंकि उसने गर्भावस्था में तो अच्छा या बुरा कुछ भी काम नहीं किया है। यदि माता पिता अच्छा या बुरा जो कुछ भी करें तो उसका परिणाम विना कारण बालक को क्यों भोगना पड़े? बालक को जो कुछ सुख दुःख भोगना पड़ता है, वह योंही विना कारण भोगना पड़ता है—यह मानना तो अज्ञान की पराकाष्ठा है क्योंकि विना कारण किसी कार्य का होना असम्भव है।

यदि यह कहा जाय कि माता पिता के आहार विहार का, विचार वर्त्तन का और शारीरिक मानसिक अवस्थाओं का

---

* इन दोनों चैतन्यवादियों के विचार की छाया, संवत् १९६१ के ज्येष्ठ मास के तथा संवत् १९६० के मार्गशीर्ष मास के और संवत् १९६५ के भाद्रपद मास के "वसन्त" पत्र में प्रकाशित हुई है।

असर बालक पर गर्भावस्था से ही पड़ना शुरू हो जाता है तो फिर यह प्रश्न होता है कि बालक को ऐसे माता पिता का संयोग क्यों हुआ? और इसका क्या समाधान है कि कभी कभी बालक की योग्यता माता पिता से बिलकुल ही जुदा प्रकार की होती है। ऐसे अनेक उदाहरण देखे जाते हैं कि माता पिता बिलकुल अपढ़ होते हैं और लड़का पूरा शिक्षित बन जाता है। यहाँ तक देखा जाता है कि किन्हीं किन्हीं माता पिताओं की रुचि जिस बात पर बिलकुल ही नहीं होती उस में बालक सिद्धहस्त हो जाता है। इसका कारण केवल आस पास की परिस्थिति नहीं मानी जा सकती क्योंकि समान परिस्थिति और बराबर देख भाल होते हुए भी अनेक विद्यार्थियों में विचार व वर्तन की विषमता देखी जाती है। यदि कहा जाय कि यह परिणाम बालक के अद्भुत ज्ञान तन्तुओं का है तो इस पर यह शंका होती है कि बालक का देह तो माता पिता के शुक्र शोणित से बना होता है फिर उसमें अविद्यमान ऐसे ज्ञानतन्तु बालक के मस्तिष्क में आये कहाँ से? कहीं कहीं माता पिता की सी ज्ञानशक्ति बालक में देखी जाती है सही पर इसमें भी प्रश्न है कि ऐसा सुयोग क्यों मिला? किसी किसी जगह यह भी देखा जाता है कि माता पिता की योग्यता बहुत बढ़ी चढ़ी होती है और उनके सौ प्रयत्न करने पर भी लड़का मूर्ख ही रह जाता है। यह सब को विदित ही है कि एक साथ युगलरूप से जन्मे हुए दो बालक भी समान नहीं होते। माता पिता की देख भाल बराबर होने पर भी एक साधारण ही रहता है और दूसरा कहीं आगे बढ़ जाता है। एक का पिण्ड रोग से नहीं छूटता और दूसरा

बड़े बड़े कुस्तीबाजों से भिड़ता है। एक दीर्घ जीवी बनता है और दूसरा सौ यत्न होते रहने पर भी अकाल में यम का अतिथि बन जाता है। एक की इच्छा संयत होती है और दूसरे की असंयत।

जो शक्ति भगवान् महावीर, बुद्ध और शंकराचार्य में थी वह उनके माता पिताओं में न थी। हेमचन्द्राचार्य की प्रतिभा के कारण उनके माता पिता नहीं माने जा सकते, उनके गुरु भी उनकी प्रतिभा के मुख्य कारण नहीं क्योंकि देवचन्द्र सूरि के हेमचन्द्र के अतिरिक्त और भी शिष्य थे फिर य कारण है कि दूसरे शिष्यों का नाम लोग जानते तक नहीं और हेमचन्द्राचार्य का नाम इतना प्रसिद्ध है?

वर्त्तमान युग के नेता अहिंसाधर्म के प्रचारक प्रतिभा और सदाचार से युक्त महात्मा गाँधी जी में जो आत्मिक शक्ति है वह उनके माता पिता में न थी, न उनके माता पिता उनकी आत्मिक शक्ति के कारण माने जा सकते हैं। श्रीमती एनी बिसेंट में जो विशिष्ट शक्ति देखी जाती है वह उनके माता पिताओं में न थी और न उनकी पुत्री में देखी गई है।

अच्छा, और भी कुछ प्रामाणिक उदाहरणों को सुनिए— प्रकाश की खोज करने वाले डा० यंग दो वर्ष की अवस्था में पुस्तक को बहुत अच्छी तरह बाँच सकते थे। चार वर्ष की अवस्था में वे दो बार बाइबिल पढ़ चुके थे। सात वर्ष की अवस्था में उन्होंने गणित शास्त्र पढ़ना आरंभ किया था और तेरह वर्ष की अवस्था में लेटिन, ग्रीक, हिब्रू, फ्रेंच, इटालियन आदि भाषाएँ सीख ली थीं। सर विलियम रोवन हेमिल्टन ने तीन वर्ष की अवस्था में हिब्रू भाषा को सीखना आरंभ किया और

सात वर्ष की अवस्था में उस भाषा में इतना नैपुण्य प्राप्त कर लिया कि कम्ब्रिज के ट्रिनिटी कालेज के एक फेलो को स्वीकार करना पड़ा कि कालेज में फेलो पद के प्रार्थियों में भी उसके बराबर ज्ञान नहीं है। तरह वर्ष की अवस्था में तो उन्होंने कम से कम तेरह भाषाओं पर पूर्ण अधिकार जमा लिया था। सन् १८८२ई में जन्मी हुई एक लड़की ने सन् १८०२ ई० में दस वर्ष की अवस्था में कई नाटक लिख लिए थे। उसकी माता के कथनानुसार वह पांच वर्ष की वय में कई छोटी मोटी कवितायें बना लेती थी। उसकी लिखी हुई कुछ कवितायें महारानी विक्टोरिया के पास भी पहुँची थीं। उस समय उस बालिका का अंग्रेजी ज्ञान भी आश्चर्यजनक था वह कहती थी कि मैं अंग्रेजी पढ़ी नहीं हूँ परन्तु उसे जानती हूँ।

उक्त उदाहरणों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट ज्ञात पड़ता है कि इस जन्म में देखी जाने वाली सब विलक्षणतायें न तो वर्तमान जन्म की कृति के ही परिणाम हैं न केवल माता पिता के केवल संस्कार के और न केवल परिस्थिति के ही। इसलिये आत्मा के अस्तित्व की मर्यादा को गर्भ के आरंभ समय से और भी पूर्व मानना चाहिए। वही पूर्व जन्म है।

पूर्व जन्म में इच्छा या प्रवृत्ति द्वारा जो संस्कार संचित हुये हों उन्हीं के आधार पर उपर्युक्त शंकाओं का तथा विलक्षणताओं का सुसंगत समाधान हो जाता है। जिस युक्ति से एक पूर्वजन्म सिद्ध हुआ उसी के बल से अनेक पूर्वजन्म की परम्परा सिद्ध हो जाती है। क्योंकि अपरिमित ज्ञानशक्ति एक जन्म के अभ्यास का फल नहीं हो सकता। इस प्रकार आत्मा

देह से पृथक् अनादि सिद्ध होता है। अनादि तत्त्व का कभी नाश नहीं होता। इस सिद्धान्त को सभी दार्शनिक मानते हैं। गीता में भी कहा है कि—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
(अ० २ श्लो० १६)

इतना ही नहीं, वल्कि वर्त्तमान शरीर के पश्चात् आत्मा का अस्तित्व माने विना अनेक प्रश्न हल नहीं हो सकते।

वहुत लोग ऐसे देखे जाते है कि वे इस जन्म में तो प्रामाणिक जीवन विताते हैं परन्तु रहते हैं दरिद्री। और वहुत ऐसे भी देखे जाते हैं कि जो न्याय, नीति और धर्म का नाम सुन कर चिढ़ते हैं परन्तु होते है वे सव तरह से सुखी। ऐसी अनेक व्यक्तियॉ मिल सकती हैं, जो हैं तो स्वयं दोषी और उनके दोषों (अपराधों) का फल भोग रहे हैं दूसरे। एक हत्या करता है और दूसरा पकड़ा जाकर फॉसी पर लटकाया जाता है। एक चोरी करता है और पकड़ा जाता है दूसरा।

यहॉ इस पर विचार करना चाहिए कि जिनको अपनी अच्छा या वुरी कृति का वदला इस जन्म में नहीं मिला, उनकी कृति क्या यों ही विफल हो जाएगी? यह कहना कि कृति विफल होती है, ठीक नहीं। यदि कर्त्ता को फल नहीं मिला, तो भी उसका असर समाज के या देश के अन्य लोगों पर होता ही है, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि मनुष्य जो कुछ करता है वह सव दूसरों के लिये ही नहीं। रात दिन परोपकार करने में निरत महात्माओं की भी इच्छा दूसरों की भलाई करने के निमित्त से अपना परमात्मत्व प्रकट करने की ही रहती है।

विश्व की व्यवस्था में इच्छा का बहुत ऊँचा स्थान है। ऐसी दशा में वर्तमान देह के साथ इच्छा के मूल का नाश मानना युक्ति-संगत नहीं। मनुष्य अपने जीवन की आखिरी घड़ी तक ऐसी ही कोशिश करता रहता है जिस से कि अपना भला हो। यह नहीं कि ऐसा करने वाले सब भ्रान्त ही होते हैं। बहुत आगे पहुंचे हुये स्थिर चित्त व शान्त प्रज्ञावान् योगी भी इसी विचार से अपने साधन को सिद्ध करने की चेष्टा में लगे होते हैं कि इस जन्म में नहीं तो दूसरे में ही सही किसी समय हम परमात्म भाव को प्रकट कर ही लेंगे। इसके सिवाय सभी के चित्त में यह स्फुरणा हुआ करती है कि मैं बराबर कायम रहूँगा। शरीर नाश होने के पश्चात् चेतन का अस्तित्व न माना जाय तो व्यक्ति का उद्देश्य कितना संकुचित बन जाता है और कार्य क्षेत्र भी कितना अल्प रह जाता है! औरों के लिये जो कुछ किया जाय परन्तु वह अपने लिये किये जाने वाले कामों के बराबर हो नहीं सकता। चेतन की उत्तर मर्यादा को वर्तमान देह के अन्तिम क्षण तक मान लेने से व्यक्ति को महत्वाकांक्षा एक तरह से छोड़ देनी पड़ती है। इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में ही सही। परंतु मैं अपना उद्देश्य अवश्य सिद्ध करूँगा यह भावना मनुष्यों के हृदय में जितना बल प्रकटा सकती है उतना बल अन्य कोई भावना नहीं प्रकटा सकती। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उक्त भावना मिथ्या है, क्योंकि उसका आविर्भाव नैसर्गिक और सर्वविदित है। विकास वाद भले ही भौतिक रचनाओं को देखकर जड़ तत्त्वों पर खड़ा किया गया हो पर उसका विषय चेतन भी बन सकता है। इन सब बातों पर ध्यान देने से यह मान

विना सन्तोष नहीं होता कि चेतन एक स्वतन्त्र तत्त्व है। वह ज्ञान से या अज्ञान से जो अच्छा बुरा कर्म करता है उसका फल उसे भोगना ही पड़ता है और इसीलिये उसे पुनर्जन्म के चक्कर में घूमना पड़ता है। पुनर्जन्म को बुद्ध भगवान् ने भी माना है। पक्का निरीश्वरवादी जर्मन पण्डित निटशे कर्मचक्र-कृत पुनर्जन्म को मानता है। यह पुनर्जन्म का स्वीकार आत्मा के अस्तित्व को मानने के लिये प्रबल प्रमाण है। इस प्रकार आत्मा के अस्तित्व मानने पर ही संसारचक्र में भ्रमण वा उससे निवृत्ति (निर्वाण पद) की प्राप्ति मानी जा सकती है। कारण कि कर्म से ससार और अकर्म से मोक्षपद की प्राप्ति होती है।

इस स्थान पर अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब सब आस्तिकवादी कर्मों को मानते हैं तो फिर जैनदर्शन में कर्मों के मानने की क्या विशेषता है? इस प्रश्न के उत्तर में प्रथम कर्म ग्रंथ की प्रस्तावना में लिखा है कि—

कर्म तत्त्व के विषय में जैन दर्शन की विशेषता।

जैन दर्शन में प्रत्येक कर्म की बध्यमान, सत् और उदयमान ये तीन अवस्थायें मानी हुई हैं। उन्हें क्रमशः बन्ध, सत्ता और उदय कहते हैं। जैनेतर दर्शनों में भी कर्म की इन अवस्थाओं का वर्णन है। उनमें बध्यमान कर्म को 'क्रियमाण' सत्कर्म को 'सञ्चित' और उदयमान को 'प्रारब्ध' कहा है। किन्तु जैन शास्त्र में ज्ञानावरणीय आदि रूप से कर्म का ८ तथा १४८ भेदों में वर्गीकरण किया है, और इसके द्वारा ससारी आत्मा की अनुभव सिद्ध भिन्न भिन्न अवस्थाओं का जैसा विशद विवेचन किया गया है वैसा किसी भी जैनेतर दर्शन में नहीं है।

पातञ्जल दर्शन में कर्म के जाति आयु और भोग ये तीन तरह के विपाक बतलाए हैं। परन्तु जैन दर्शन में कर्म के सम्बन्ध में रक्खे गये विचार के सामने यह वर्णन नाम मात्र का है।

आत्मा के साथ कर्म का बन्ध कैसे होता है? किन किन कारणों से होता है? किस कारण से कर्म में कैसी शक्ति पैदा होती है? कर्म अधिक से अधिक और कम से कम कितने समय तक आत्मा के साथ लगा रह सकता है। आत्मा के साथ लगा हुआ भी कर्म कितने समय तक विपाक देने में असमर्थ है? विपाक का नियत समय भी बदला जा सकता है या नहीं? यदि बदला जा सकता है तो उसके लिये कैसा आत्मपरिणाम आवश्यक है? एक कर्म अन्य कर्म रूप कब बन सकता है? उसकी बन्ध कालीन तीव्र मन्द शक्तियाँ किस प्रकार बदली जा सकती हैं? पीछे से विपाक देने वाला कर्म पहले ही कब और किस तरह भोगा जा सकता है? कितना भी बलवान् कर्म क्यों न हो पर उसका विपाक शुद्ध आत्मिक परिणामों से कैसे रोक दिया जाता है। कभी कभी आत्मा के शतशः प्रयत्न करने पर भी कर्म अपना विपाक बिना भोगवाये नहीं छूटता? आत्मा किस तरह कर्म का कर्ता और भोक्ता है? इतना होने पर भी वस्तुतः आत्मा में कर्म का कर्तृत्व और भोक्तृत्व किस प्रकार नहीं है? संक्लेशरूप परिणाम अपनी आकर्षण शक्ति से आत्मा पर एक प्रकार की सूक्ष्म रज का पटल किस तरह डाल देते हैं? आत्मा वीर्य शक्ति के आविर्भाव के द्वारा इस सूक्ष्म रज के पटल को किस तरह उठा फेंक देता है? स्वभावतः शुद्ध आत्मा भी कर्म के प्रभाव से किस किस प्रकार मलिन सा दीखता है? और बाह्य हजारों आवरणों के होने पर भी आत्मा

अपने शुद्ध स्वरूप से किस तरह च्युत नहीं होता? वह अपनी उत्क्रान्ति के समय पूर्वबद्ध तीव्र कर्मों को किस तरह हरा देता है? वह अपने में वर्त्तमान परमात्म भाव को देखने के लिये जिस समय उत्सुक होता है उस समय उसके और अन्तरायभूत कर्म के बीच कैसा द्वन्द्व युद्ध होता है? अन्त में वीर्यवान् आत्मा किस प्रकार के परिणामों से बलवान् कर्मों को कमजोर करके अपने प्रगति-मार्ग को निष्कंटक करता है? आत्म मन्दिर में वर्त्तमान परमात्मदेव का साक्षात्कार कराने में सहायक परिणाम जिन्हें 'अपूर्वकरण' तथा 'अनिवृत्तिकरण' कहते हैं, उनका क्या स्वरूप है? जीव अपनी शुद्ध परिणाम तरंगमाला के वैद्युतिक-यन्त्र से कर्म के पहाड़ों को किस कदर चूर चूर कर डालता है? कभी कभी गुलांट खा कर कर्म ही, जो कि कुछ देर के लिये दबे होते है, प्रगतिशील आत्मा को किस तरह नीचे पटक देते हैं? कौन कौन कर्म बन्ध व उदय की अपेक्षा आपस में विरोधी है? किस कर्म का बन्ध किस अवस्था में अवश्यम्भावी और किस अवस्था में अनियत है? किस कर्म का विपाक किस हालत तक नियत और किस हालत में अनियत है? आत्म सम्बन्ध अतीन्द्रिय कर्म रज किस प्रकार की आकर्षण-शक्ति से स्थूल पुद्गलों को खींचा करती है और उनके द्वारा शरीर, मन, सूक्ष्म शरीर आदि का निर्माण किया करती है? इत्यादि संख्यातीत प्रश्न जो कर्म से सम्बन्ध रखते है, उनका सयुक्तिक विस्तृत व विशद विवेचन जैन साहित्य के सिवाय अन्य किसी भी दर्शन के साहित्य से नहीं किया जा सकता। यही कर्मतत्त्व के विषय में जैन दर्शन की विशेषता है।

पाठक जनों को यह भली भाँति विदित हो गया होगा कि जिस प्रकार आत्मवाद और कर्मवाद का सविस्तर वर्णन जैन साहित्य में मिलता है उस प्रकार किसी भी जैनेतर दर्शन में उक्त विषय स्फुट रूप से वर्णन नहीं किया गया।

बहुत से लोग इस प्रकार से कहा करते हैं कि जिस प्रकार से कर्म किये जाते हैं ठीक उसी प्रकार उनका फल भी भोगने में आता है सो यह भी तब तक ही कथन किया जाता है, जब तक प्रकृति स्थिति अनुभाग प्रदेश—इत्यादि कर्मों के भेदों को अधिगत नहीं किया गया। कारण कि कर्मों का बन्ध आत्मा के राग द्वेष के भावों पर ही अवलम्बित है, अर्थात् जिस प्रकार के तीव्र व मंद भाव होते हैं उस प्रकार से बन्ध वा संक्रमण कर्म प्रकृतियों का हो जाता है।

अतः जिस प्रकार से कर्म किये गये हैं उस प्रकार से भी भोग सकता है अन्य प्रकार से भी भोग सकता है। कारण कि आत्मा के भावों द्वारा ही कर्मों की प्रकृतियों का बन्ध व संक्रमण माना गया है। जैसे कि—१ शुभ कर्मों का शुभ विपाक २ शुभ कर्मों का अशुभ विपाक ३ अशुभ कर्मों का शुभ विपाक ४ अशुभ कर्मों का अशुभ विपाक। इस चतुर्भंगी में इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि कर्म आत्मा के भावों पर ही निर्भर रहते हैं जैसे कि पहले और चतुर्थ भंग में तो कोई विवाद ही नहीं है। किन्तु जो द्वितीय और तृतीय भङ्ग हैं वे अवश्य विचारणीय हैं। जैसे कि—२ शुभ कर्मों का अशुभ विपाक और ३ अशुभ कर्मों का शुभ विपाक। इन दोनों भङ्गों के कथन करने का सारांश इतना ही है कि दानादि शुभ कर्म करके फिर पश्चात्तापादि करने लग जाना—इत्यादिक्रियाओं

द्वारा जिस तरह शुभ कर्मों का अशुभ विपाक हो जाता है ठीक उसी प्रकार हिंसादि अशुभ क्रिया कर के फिर अन्तःकरण से पश्चात्तापादि क्रियाओं द्वारा अशुभ कर्मों का शुभ विपाक अनुभव किया जाता है। क्योंकि कर्मों के कारण में मुख्यतया आत्मा के भाव ही लिये जाते है तथा उन भावों से कर्म से निवृत्ति और प्रवृत्ति देखी जाती है।

छठा पाठ

(कर्मवाद)

कर्म और आत्मा का अस्तित्व मानने पर ही निर्वाण पद का अस्तित्व माना जा सकता है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वास्तव में कर्म किसे कहते हैं ? उन के मूल भेद वा उत्तर भेद कितने हैं ? इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार है—

कर्म पुद्गल उसे कहते हैं जिस में रूप रस गन्ध और स्पर्श हों। पृथिवी पानी अग्नि और वायु पुद्गल से बने हैं। जो पुद्गल कर्म बनते हैं वे एक प्रकार की सूक्ष्म रज अथवा धूलि है, जिस को इन्द्रियां यंत्र की सहायता से भी नहीं जान सकतीं। सर्वज्ञ परमात्मा अथवा परम-अवधि ज्ञान वाले योगी ही उस रज को देख सकते हैं। जीव के द्वारा जब वह रज ग्रहण की जाती है तब उसे कर्म कहते हैं।

शरीर में तेल लगाकर कोई धूलि में लोटे तो धूलि उसके शरीर में चिपक जाती है उसी प्रकार मिथ्यात्व कषाय योग आदि से जीव के प्रदेशों में जब परिस्पन्द (हलचल) होता है तब जिस आकाश में आत्मा के प्रदेश हैं वहीं के अनन्त अनन्त कर्मयोग्य पुद्गल परमाणु जीव के एक एक प्रदेश के साथ बँध जाते हैं इस प्रकार जीव और कर्म का आपस में बन्ध होता है। जैसे दूध और पानी का तथा आग का और लोहे के गोले का सम्बन्ध होता है उसी प्रकार जीव और पुद्गल का

सम्बन्ध होता है। इसी को कर्म कहते हैं तथा कर्मों की ८ मूल प्रकृतियां और १४८ उत्तर प्रकृतियां हैं।

कर्म बंध चार प्रकार से वर्णन किया गया है। जैसे कि—
१ प्रकृति बन्ध २ स्थिति बन्ध ३ अनुभाग बन्ध और ४ प्रदेश बन्ध। इन का स्वरूप निम्न प्रकार से पढ़िये।

१—प्रकृति बन्ध।

जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलों में जुदे जुदे स्वभावों का अर्थात् शक्तियों का पैदा होना प्रकृति बन्ध कहलाता है।

२—स्थिति बन्ध।

जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलों में अपने अपने काल तक अपने स्वभावों का त्याग न कर जीव के साथ रहने की काल मर्यादा का होना स्थिति बन्ध कहलाता है।

३—रस बन्ध।

जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म-पुद्गलों में रस के तर तम भाव का अर्थात् अत्यन्त फल देने की न्यूनाधिक शक्ति का होना रस बन्ध कहलाता है।

४—प्रदेश बन्ध।

जीव के साथ न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्म स्कन्धों का सम्बन्ध होना प्रदेश बन्ध कहलाता है।

अब इस स्थान पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि—
१ प्रकृति बन्ध २ स्थिति बन्ध ३ रस बन्ध और ४ प्रदेश बन्ध— इन बन्धों को किस दृष्टान्त द्वारा पूर्णतया अधिगत करना चाहिये? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि मोदक के दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में प्रकृति आदि का स्वरूप यों सम-

करना चाहिये। जैसे कि वात नाशक पदार्थ—सोंठ, मिर्च पीपल आदि से बने हुये लड्डुओं का स्वभाव जिस प्रकार वायु के नाश करने का है पित्त नाशक पदार्थों से बने हुये लड्डुओं का स्वभाव जिस प्रकार पित्त के दूर करने का है कफ नाशक पदार्थों से बने हुये लड्डुओं का स्वभाव जिस प्रकार कफ के नष्ट करने का है उसी प्रकार आत्मा के द्वारा ग्रहण किए हुए कुछ कर्म पुद्गलों में आत्मा के ज्ञान गुण के घात करने की शक्ति उत्पन्न होती है कुछ कर्म पुद्गलों में आत्मा के दर्शन गुण को ढकने की शक्ति उत्पन्न होती है कुछ कर्म पुद्गलों में आत्मा के आनन्द गुण को छिपा देने की शक्ति पैदा होती है, कुछ कर्म पुद्गलों में आत्मा की अनन्त सामर्थ्य को दबा देने की शक्ति पैदा होती है। इस तरह भिन्न भिन्न कर्म पुद्गलों में भिन्न भिन्न प्रकार की प्रकृतियों (शक्तियों) के बन्ध को अर्थात् उत्पन्न होने को प्रकृति बन्ध कहते हैं।

कुछ लड्डू एक सप्ताह तक रहते हैं कुछ लड्डू एक पक्ष तक कुछ लड्डू एक महीने तक। इस तरह लड्डुओं की जुदी जुदी काल मर्यादा होती है। काल मर्यादा को स्थिति कहते हैं। स्थिति के पूर्ण होने पर लड्डू अपने अपने स्वभाव को छोड़ देते हैं अर्थात् बिगड़ जाते हैं। इसी प्रकार कोई कर्म दल आत्मा के साथ सत्तर कोड़ा कोड़ी सागरोपम तक कोई बीस कोड़ा कोड़ी सागरोपम तक कोई अन्तर्मुहूर्त तक रहते हैं। इस तरह जुदे जुदे कर्म दलों में जुदी जुदी स्थितियों का अर्थात् अपने स्वभाव का त्याग न कर आत्मा के साथ बने रहने की काल मर्यादाओं का बन्ध अर्थात् उत्पन्न होना स्थिति बन्ध कहलाता है। स्थिति के पूर्ण होने पर कर्म दल अपने स्वभाव को छोड़ देते हैं—आत्मा से जुदे हो जाते हैं।

कुछ लड्डुओं में मधुर रस अधिक रहता है, कुछ लड्डुओं में कम। कुछ लड्डुओं में कटु रस अधिक, कुछ लड्डुओं में कम। इस तरह मधुर, कटु, आदि रसों की न्यूनाधिकता देखी जाती है। इसी प्रकार कुछ कर्म दलों में शुभ रस अधिक, कुछ कर्म दलों में कम, कुछ कर्म दलों में अशुभ रस अधिक, कुछ कर्म दलों में कम। इस तरह विविध प्रकार के अर्थात् तीव्र तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम, शुभ अशुभ रसों का कर्म पुद्गलों में बन्धना अर्थात् उत्पन्न होना 'रसबन्ध' कहलाता है।

शुभ कर्मों का रस ईख, द्राक्षा आदि रस के सदृश मधुर होता है, जिसके अनुभव से जीव खुश होता है। अशुभ कर्मों का रस नींब आदि के रस के सदृश कडुवा होता है, जिस के अनुभव से जीव बुरी तरह घबड़ा उठता है। तीव्र, तीव्रतर आदि को समझने के लिये दृष्टांत के तौर पर ईख या नींब का चार सेर रस लिया जाय इस रस को स्वाभाविक रस कहना चाहिये। आँच के द्वारा औटा कर जब चार सेर की जगह तीन सेर रस बच जाय तो उसे तीव्र कहना चाहिये और औटा कर जब एक सेर बच ज य तो तीव्रतम कहना चाहिये। ईख या नींब का एक सेर स्वाभाविक रस लिया जाय, उस में एक सेर पानी मिलाने से मन्दरस बन जायगा। दो सेर पानी मिलाने से मन्दतर रस बनेगा। तीन सेर पानी मिलाने से मन्दतम रस बनेगा। कुछ लड्डुओं का परिमाण दो तोले का, कुछ लड्डुओं का छटांक का और कुछ लड्डुओं का परिमाण पाव भर का होता है। उसी प्रकार कुछ कर्म दलों में परमाणुओं की संख्या अधिक रहती है, कुछ कर्म दलों में कम। इस तरह भिन्न भिन्न

परमाणु संख्याओं से युक्त कर्म वर्गों का आत्मा से सम्बन्ध होना प्रदेश बन्ध कहा जाता है।

जीव संख्यात असंख्यात अथवा अनंत परमाणुओं से बने हुए स्कंध को ग्रहण नहीं करता किन्तु अनन्त अनन्त परमाणुओं से बने हुये स्कन्ध को ग्रहण करता है।

कर्मों की मूल प्रकृतियां आठ हैं। जैसे कि— १ ज्ञानावरणीय २ दर्शनावरणीय ३ वेदनीय ४ मोहनीय ५ आयु ६ नाम ७ गोत्र और ८ अन्तराय। उत्तर प्रकृतियाँ १४८ वा १५८ हैं। जैसेकि—पहले कर्म के उत्तर भेद पांच दूसरे के नौ तीसरे के दो चौथे के अट्ठाईस पांचवें के चार, छठे के एक सौ तीन वा तेरानवे सातवें के दो और आठवें के पांच हैं। आठों कर्मों के उत्तर भेदों की संख्या एक सौ अट्ठावन हुई। चेतना आत्मा का गुण है। उस (चेतना) के पर्याय को उपयोग कहते हैं। उपयोग के दो भेद हैं—ज्ञान और दर्शन। ज्ञान को साकार उपयोग कहते हैं और दर्शन को निराकार उपयोग। जो उपयोग पदार्थों के विशेष धर्मों का-जाति गुण क्रिया आदि का ग्राहक है वह ज्ञान कहलाता है। और जो उपयोग पदार्थों के सामान्य धर्म (सत्ता) का ग्राहक है, उसे दर्शन कहते हैं। सो यह चेतना के गुण कर्मों के आवरण से आच्छादित हो रहे हैं।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जो ऊपर आठ कर्मों के नाम लिखे गए हैं, उनका अर्थ क्या है? इस प्रश्न के समाधान में कहा जाता है कि इन आठ कर्मों के अर्थ को नीचे पढ़िये। जैसे कि—

१ ज्ञानावरणीय—जो कर्म आत्मा के ज्ञान गुण को आच्छादित करे (ढ़ॉपे), उसे ज्ञानावरणीय कहते हैं।

२ दर्शनावरणीय—जो कर्म आत्मा के दर्शन गुण को आच्छादित करे, वह दर्शनावरणीय कहा जाता है।

३ वेदनीय—जो कर्म आत्मा को सुख दुःख पहुँचावे, वह वेदनीय कहा गया है।

४ मोहनीय—जो कर्म स्व—पर विवेक में तथा स्वरूप रमण में वाधा पहुँचाता है, वह मोहनीय कहा जाता है।

५ आयु—जिस कर्म के अस्तित्व (रहने) से प्राणी जीता है तथा क्षय होने से मरता है, उसे आयु कहते हैं।

६ नाम—जिस कर्म के उदय से जीव नारक तिर्यञ्च आदि नामों से संवोधित होता है, अर्थात्—अमुक जीव नारक है, अमुक तिर्यञ्च है, अमुक मनुष्य है, अमुक देव है, इस प्रकार कहा जाता है, उसे नाम कर्म कहते हैं।

७ गोत्र—जो कर्म आत्मा को उच्च तथा नीच कुल में जन्मावे उसे गोत्र कहते हैं।

८ अन्तराय—जो कर्म आत्मा के वीर्य, दान, लाभ, भोग, और उपभोग रूप शक्तियों का घात करता है, वह अन्तराय कहा जाता है।

अव मूल प्रकृतियों के पश्चात् उत्तर प्रकृतियों का विषय कहते हैं। जैनागमतत्त्वदीपिका से उक्त प्रकृतियाँ अर्थयुक्त लिखी जाती हैं।

प्र०—ज्ञानावरणीय कितने प्रकार का है?

उ०—पांच प्रकार का। १ मतिज्ञानावरणीय, २ श्रुतज्ञानावरणीय, ३ अवधिज्ञानावरणीय, ४ मनःपर्यायज्ञानावरणीय, ५ केवलज्ञानावरणीय।

प्र०—मतिज्ञानावरणीय आदि किसे कहते हैं ?

उ०—जो इन्द्रिय और मन से पैदा होने वाले ज्ञान का आवरण करे, उसे मतिज्ञानावरणीय कहते हैं । इसी प्रकार जो श्रुत ज्ञान अवधि ज्ञान मनःपर्याय ज्ञान और केवल ज्ञान का आवरण करें, वे श्रुतज्ञानावरणीय आदि समझने ।

प्र०—दर्शनावरणीय कर्म के कितने भेद हैं ?

उ०—नौ भेद हैं । १ चक्षुर्दर्शनावरणीय २ अचक्षुर्दर्शनावरणीय ३ अवधिदर्शनावरणीय ४ केवलदर्शनावरणीय ५ निद्रा ६ निद्रा-निद्रा ७ प्रचला ८ प्रचलाप्रचला ९ स्त्यान गृद्धि ।

प्र०—चक्षुर्दर्शनावरणीय किसे कहते हैं ?

उ०—चक्षु इन्द्रियों से होने वाले मति ज्ञान के पहले जो सामान्य ज्ञान होता है उसे जो आच्छादित करे ।

प्र०—अचक्षुर्दर्शनावरणीय किसे कहते हैं ?

उ०—चक्षु के अतिरिक्त दूसरी इन्द्रियों से होने वाले मति ज्ञान के पूर्व सामान्य ज्ञान जिस से आच्छादित हो । (ढँपा जाय) ।

प्र०—अवधिदर्शनावरणीय किसे कहते हैं ?

उ०—जिस से अवधि दर्शन आच्छादित हो ।

प्र०—केवलदर्शनावरणीय किसे कहते हैं ?

उ०—जिस से केवल दर्शन आच्छादित हो ।

प्र०—निद्रा किसे कहते हैं ?

उ०—जिस से सुख से सोवे सुख से जागे ऐसी निद्रा को ।

प्र —निद्रानिद्रा किसे कहते हैं ?

उ०—आवाज देने से टूटे ऐसी निद्रा को ।

प्र०—प्रचला किसे कहते हैं ?

उ०—बैठे बैठे नींद आवे ऐसी निद्रा को ।

प्र०—प्रचलाप्रचला किसे कहते हैं ?

उ०—घोड़े की तरह चलते फिरते नींद आवे ऐसी निद्रा को।

प्र०—स्त्यानगृद्धि निद्रा किसे कहते हैं ?

उ०—दिन में सोचे हुए कार्य को नींद में ही कर डाले ऐसी निद्रा को ।

प्र०—वेदनीय के कितने भेद हैं ?

उ०—दो । १ साता वेदनीय और २ असाता वेदनीय ।

प्र०—साता वेदनीय किसे कहते हैं ?

उ०-जिससे साता (सांसारिक सुख) वेदा जाय (भोगा जाय)।

प्र०—असाता वेदनीय किसे कहते हैं ?

उ०—जिस के कारण से दु:ख वेदा जाय (भोगा जाय)।

प्र०—मोहनीय के कितने भेद हैं ?

उ०-मुख्य दो भेद । १ दर्शन मोहनीय और २ चारित्र मोहनीय।

प्र०—दर्शन मोहनीय किसे कहते हैं ?

उ०—यथार्थ श्रद्धा को दर्शन कहते हैं, उस दर्शन को जो मोहित (विकृत) करे, उसे दर्शन मोहनीय कहते हैं ।

प्र०—चारित्र मोहनीय किसे कहते हैं ?

उ०—जिस के द्वारा आत्मा के चारित्र गुण का घात हो ।

प्र०—दर्शन मोहनीय के कितने भेद हैं ?

उ०—तीन । १ सम्यक्त्व मोहनीय २ मिश्र मोहनीय ३ मिथ्यात्व मोहनीय ।

प्र०—सम्यक्त्व मोहनीय किसे कहते हैं ?

उ०—जिस प्रकार कूटे हुए कोद्रव धान्य के छिलकों में पूर्ण मादकशक्ति नहीं होती उसी प्रकार जिस कर्म के द्वारा सम्यक्त्व

गुण का पूर्ण घात तो न हो परन्तु चलमल आगाढ़ दोष उत्पन्न हो।

प्रथम कर्म ग्रन्थ में उक्त विषय को इस प्रकार से स्फुट तथा वर्णन किया है जैसे कि दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं— १ सम्यक्त्व मोहनीय २ मिश्र मोहनीय ३ मिथ्यात्व मोहनीय। सम्यक्त्व मोहनीय के दलिक शुद्ध हैं मिश्र मोहनीय के अर्ध विशुद्ध और मिथ्यात्व मोहनीय के अशुद्ध।

(१) कोद्रो (कोद्रव) एक प्रकार का धान्य है जिस के खाने से नशा होता है परन्तु उस धान्य का छिलका निकाला जाय और छाछ आदि से शोधा जाय तो वह नशा नहीं करता। इसी प्रकार जीव को हित अहित परीक्षा में विकल करनेवाले मिथ्यात्व मोहनीय के पुद्गल हैं उन में सर्वघाती रस होता है। द्विस्थानक त्रिस्थानक और चतुःस्थानक रस सर्वघाती हैं। जीव अपने विशुद्ध परिणाम के बल से उन पुद्गलों के सर्वघाती रस को घटा देता है सिर्फ एकस्थानक रस बच जाता है, इन एक स्थानक रसवाले मिथ्यात्व मोहनीय के पुद्गलों को ही सम्यक्त्व मोहनीय कहते हैं। यह कर्म शुद्ध होने के कारण तत्त्वरुचि रूप सम्यक्त्व में बाधा नहीं पहुंचाता परन्तु इसके उदय से आत्म-स्वभाव रूप औपशमिक सम्यक्त्व तथा क्षायिक सम्यक्त्व होने नहीं पाता और सूक्ष्म पदार्थों के विचारने में शंकायें हुआ करती हैं जिस से कि सम्यक्त्व में मलिनता आ जाती है। इसी दोष के कारण यह कर्म सम्यक्त्व मोहनीय कहलाता है।

(२) कुछ भाग शुद्ध और कुछ भाग अशुद्ध ऐसे कोद्रो के समान मिश्र मोहनीय है। इस कर्म के उदय से जीव को तत्त्व

रुचि नहीं होने पाती और अतत्त्व रुचि भी नहीं होती। मिश्र मोहनीय का दूसरा नाम सम्यक् मिथ्यात्व मोहनीय है इन कर्म पुद्गलों में द्विस्थानक रस होता है।

(३) सर्वथा अशुद्ध कोदो के समान मिथ्यात्व मोहनीय है इस कर्म के उदय से जीव को हित में अहित बुद्धि और अहित में हित बुद्धि होती है अर्थात् हित को अहित समझता है और अहित को हित। इन कर्म पुद्गलों में चतुःस्थानक, त्रिस्थानक और द्विस्थानक रस होता है। ¼ को चतुःस्थानक ⅓ को त्रिस्थानक और ½ को द्विस्थानक रस कहते हैं। जो रस सहज है अर्थात् स्वाभाविक है उसे एक स्थानक कहते हैं। इस विषय को समझने के लिये नींव का एक सेर रस लिया इसे एक स्थानक रस कहेंगे। नींव के इस स्वाभाविक रस को कटु और ईख के रस को मधुर कहना चाहिये। उक्त एक सेर रस को आग के द्वारा कढ़ाकर आधा जला दिया। बचे हुए आधे रस को द्विस्थानक रस कहते हैं। यह रस स्वाभाविक कटु और मधुर रस की अपेक्षा कटुकतर और मधुरतर कहा जायगा। एक सेर रस के दो हिस्से जला जायँ तो बचे हुए एक हिस्से को त्रिस्थानक रस कहते हैं। यह रस नींव का हुआ तो कटुकतम और ईख का हुआ तो मधुरतम कहा जायगा। एक सेर रस के तीन हिस्से जला दिये जायँ तो बचे हुए पाव भर रस को चतुःस्थानक कहते हैं। यह रस नींव का हुआ तो अतिकटुकतम और ईख का हुआ तो अतिमधुरतम कहा जायगा। इस प्रकार शुभ अशुभ फल देने की कर्म की तीव्रतम शक्ति को चतुःस्थानक, तीव्रतरशक्ति

को त्रिस्थानक तीव्र शक्ति को द्विस्थानक और मन्दशक्ति को एकस्थानक समझना चाहिये। इस लिए कुछ दोषयुक्त होने से ही यह सम्यक्त्व मोहनीय कहा जाता है।

प्र०—चल दोष किसे कहते हैं?

उ०—जैसे एक ही जल नाना तरंगों में परिणत होता है उसी प्रकार तीर्थंकरों में समान अनंतशक्ति है तो भी श्री शांतिनाथ की शांति करने में और श्री पार्श्वनाथ की परिचय देने में समर्थ हैं इस प्रकार अनेक विषयों में चलायमान होने के कारणभूत दोष को चल दोष कहते हैं।

प्र०—मल दोष किसे कहते हैं?

उ०—जैसे निर्मल सुवर्ण भी मल के कारण मलिन कहा जाता है, वैसे ही जिसके कारण सम्यग् दर्शन में [illegible] की तरंग से मलिनता आ जाय उसे मल दोष कहते हैं।

प्र०—अगाढ दोष किसे कहते हैं?

उ०—जैसे वृद्ध पुरुष के हाथ में रक्खी हुई लाठी काँपती है वैसे ही जिस सम्यग् दर्शन के होते हुए भी जिससे यह मेरा शिष्य है यह उसका शिष्य है इत्यादि भ्रम हो उसे अगाढ दोष कहते हैं।

प्र०—मिश्र मोहनीय किसे कहते हैं?

उ०—जिस कर्म के उदय से जीव की मिश्र रुचि हो अर्थात् दही और गुड़ के मिश्रित होने से न पूरा दही का स्वाद आता है न पूरा गुड़ का ही वैसे न पूरी तत्त्वरुचि हो न पूरी अतत्त्वरुचि हो।

प्र०—मिथ्यात्व मोहनीय किसे कहते हैं?

उ०—जैसे पित्त ज्वर के रोगी को ज्वर के कारण दूध आदि मीठे पदार्थ कड़वे लगते हैं। इसी प्रकार जिस कर्म के उदय से जिन प्रणीततत्त्व अच्छा नहीं लगता।

प्र०—कषाय किसे कहते हैं ?

उ०—जो आत्मगुणों को कषै (नष्ट करे) अर्थात् जो जन्म मरण रूपी ससार को वढ़ावे।

प्र०—चारित्र मोहनीय कर्म के कितने भेद हैं ?

उ०—दो। एक कषाय मोहनीय और दूसरा नोकषाय मोहनीय।

प्र०—कषाय किसे कहते हैं ?

उ०—जो आत्म गुणों को कषै (नष्ट करे) अर्थात् जो जन्म मरण रूपी संसार को वढ़ावे।

प्र०—नो कषाय किसे कहते हैं ?

उ०—कम कषाय को अर्थात् कषाय को उत्तेजित (प्रेरित) करने वाले हास्य आदि को।

प्र०—कषाय के कितने भेद हैं ?

उ०—सोलह। अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, संज्वलन क्रोध मान माया लोभ।

प्र०—अनन्तानुबंधी चौकड़ी (क्रोध मान माया लोभ) किसे कहते हैं ?

उ०—जो जीव के सम्यक्त्व को नष्ट करके अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करावे।

प्र०—अप्रत्याख्यानावरण चौकड़ी किसे कहते हैं ?

उ०—जो कषाय आत्मा के देश विरति गुण (श्रावकत्व) का घात करे।

प्र०—प्रत्याख्यानावरण चौकड़ी किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कषाय से आत्मा का सर्वविरति चारित्र गुण नष्ट हो।

प्र०—संज्वलन चौकड़ी किसे कहते हैं ?

उ०—जिस चौकड़ी से आत्मा को यथाख्यात चारित्र न हो।

प्र०—नो कषाय के कितने भेद हैं ?

उ०—नौ। १ हास्य २ रति ३ अरति ४ भय ५ शोक ६ जुगुप्सा ७ स्त्रीवेद ८ पुरुषवेद ९ नपुंसकवेद।

प्र०—हास्य नो कषाय किसे कहते हैं ?

उ०—जिसके उदय से हँसी आवे।

प्र०—रति नो कषाय किसे कहते हैं ?

उ०—जिसके उदय से विषयों में उत्सुकता हो।

प्र०—अरति किसे कहते हैं ?

उ०—जिस के उदय से धर्म कार्य में अरुचि हो।

प्र०—शोक नो कषाय किसे कहते हैं ?

उ०—जिसके उदय से शोक हो।

प्र०—भय नो कषाय किसे कहते हैं ?

उ०—जिसके उदय से भय हो।

प्र०—जुगुप्सा नो कषाय किसे कहते हैं ?

उ०—जिसके उदय से दूसरे की निन्दा की जाय।

प्र०—स्त्री वेद किसे कहते हैं ?

उ०—जिसके उदय से पुरुष के साथ रमण करने की इच्छा हो।

प्र०—पुरुष वेद किसे कहते हैं ?

उ०—जिसके उदय से स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा हो।

प्र०—नपुंसक वेद किसे कहते हैं ?

उ०—जिसके उदय से स्त्री और पुरुष दोनों के साथ रमण करने की इच्छा हो।

प्र०—द्रव्य वेद किसे कहते हैं ?

उ०—नामकर्म के उदय से प्रगट हुए बाह्य चिह्न विशेष को।

प्र०—भाव वेद किसे कहते हैं ?

उ०—मैथुन करने की अभिलाषा को।

प्र०—किस किस की काम वासना किस किस प्रकार की होती है ?

उ०—पुरुष की कामाग्नि घास के पूले के समान होती है, स्त्री की कामाग्नि बकरी की लेंडी (मेंगणी) के समान और नपुंसक की कामाग्नि नगर दाह की अग्नि के समान।

प्र०—आयु कर्म के कितने भेद हैं ?

उ०—चार। १नरकायु २तिर्यंचायु ३मनुष्यायु और ४देवायु।

प्र०—नाम कर्म की कितनी प्रकृतियाँ हैं ?

उ०—तेरानवे। ४ गति (देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारक) ५ जाति (एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, पंचेन्द्रिय जाति) ५ शरीर (औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण) ३ अंगोपांग (औदारिक, वैक्रिय और आहारक) ५ बन्धन (औदारिक शरीर बन्धन, नाम कर्म वैक्रिय शरीर बन्धन, आहारक शरीर बन्धन, तैजस शरीर बन्धन, कार्मण शरीर बन्धन) ५ संघात नाम कर्म (औदारिक,

वैक्रिय आहारक तैजस और कार्मण समात) ६ संहनन नाम कर्म (वज्र ऋषभ नाराच ऋषभ नाराच अर्ध नाराच कीलक और सेवार्त) ६ संस्थान नाम कर्म (सम चतुरस्र न्यग्रोध परिमंडल सादि, कुब्ज वामन हुंडक संस्थान) ५ वर्ण नाम कर्म (काला, हरा लाल पीला और श्वेत) २ गंधनाम कर्म (सुरभि दुरभि) ५ रस नाम कर्म (तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल मधुर) ८ स्पर्श नाम कर्म (गुरु लघु, मृदु, कर, शीत उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष) ४ आनुपूर्वी नाम कर्म (देवगत्यानुपूर्वी मनुष्यगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी नारकगत्यानुपूर्वी) २ विहायोगति नाम कर्म (शुभ और अशुभ विहायोगति) १ पराघात १ श्वासोच्छ्वास १ आताप १ उद्योत १ अगुरुलघु १ तीर्थंकर नाम कर्म १ निर्माण १ उपघात १० त्रसदशक (त्रस बादर पर्याप्त प्रत्येक स्थिर, शुभ सुभग सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति) १० स्थावर दशक (स्थावर, सूक्ष्म अपर्याप्त साधारण अस्थिर अशुभ दुर्भग दुस्वर, अनादेय अयशः कीर्ति)

प्र —गति नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिसके उदय से आत्मा मनुष्य आदि गतियों में जावे।

प्र०—जाति नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिसके उदय से आत्मा एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय कहा जावे ।

प्र —शरीर नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ —जिसके उदय से शरीर बने ।

प्र —शरीर के कितने भेद हैं ?

उ०—पॉच। १ औदारिक २ वैक्रिय ३ आहारक ४ तैजस और ५ कार्मण।

प्र०—औदारिक शरीर किसे कहते हैं ?

उ०—उदार-प्रधान अर्थात् जिस शरीर से मोक्ष पाया जा सके तथा जो मांस अस्थि आदि से बना हुआ हो।

प्र०—वैक्रिय शरीर किसे कहते हैं ?

उ०—जिससे एक से अनेक और विचित्र विचित्र रूप बन सकें।

प्र०—आहारक शरीर किसे कहते हैं ?

उ०—प्राणि दया, तीर्थंकरों की ऋद्धि का देखना, सूक्ष्म पदार्थ का जानना, संशय छेदन करना, इत्यादि कारणों के होने पर चौदह पूर्वधारी मुनिराज योगबल से जो शरीर बनाते है, उसे आहारक शरीर कहते हैं।

प्र०—तैजस शरीर किसे कहते हैं ?

उ०—औदारिक वैक्रिय शरीर को तेज (कांति) देने वाला, आहार को पचाने वाला और तेजोलेश्या का साधक शरीर तैजस शरीर कहलाता है।

प्र०—कार्मण शरीर किसे कहते हैं ?

उ०—ज्ञानावरण आदि कर्मों का खजाना और आहार को शरीर में ठिकाने ठिकाने पहुँचाने वाला।

प्र०—अंगोपांग नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से अंग (शिर, पैर, हाथ आदि) और उपाग (अंगुलि, नाक, कान आदि) बनें।

प्र०—बन्धन नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से औदारिक आदि शरीरों के परमाणु परस्पर बंधन को प्राप्त हों।

प्र०—संघात नाम किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से औदारिक आदि शरीरों के पुद्गल परमाणु व्यवस्थित रीति से मिलें—छिद्र रहित एकता को प्राप्त हों।

प्र०—संहनन नाम किसे कहते हैं ?

उ०—जिस के द्वारा शरीर पुद्गल दृढ़ किया जाय।

प्र०—वज्र ऋषभ नाराच संहनन नाम किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से मर्कट बन्ध से बँधी हुई दो हड्डियों के ऊपर तीसरी हड्डी का वेष्टन हो और तीनों को भेदने वाली हड्डी की कील जिस संहनन में हो।

प्र —ऋषभ नाराच संहनन नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से तीनों ओर हाड़ों का मर्कट बन्धन हो और तीसरे हाड़ का वेष्टन हो।

प्र०—नाराच संहनन नाम किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से रचना में हड्डियों का मर्कट बन्धन हो वेष्टन और कील न हो।

प्र०—अर्द्ध नाराच संहनन नाम किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से हाड़ों की रचना में एक तरफ मर्कट बन्धन हो और दूसरी ओर कील हो।

प्र०—कीलक संहनन नाम किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से हाड़ कीलों से बन्धे हों।

प्र०—असंप्राप्त संहनन नाम किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से हाड़ आपस में जुड़े हों।

प्र०—संस्थान नाम किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से शरीर का आकार बने।

प्र०—सम चतुरस्र संस्थान नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस के उदय से पलॉठी (पालखी) मारने पर शरीर की शकल चारों ओर से समान हो।

प्र०—न्यग्रोध परिमडल संस्थान नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस के उदय से शरीर की शकल वड़ वृत्त जैसी हो अर्थात् नाभि से ऊपर के अवयव पूर्ण हों और नीचे के अपूर्ण छोटे छोटे हों।

प्र०—सादि संस्थान नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस के उदय से नाभि से नीचे के अवयव पूर्ण हों, ऊपर के छोटे छोटे हों।

प्र०—कुब्ज संस्थान नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिसके उदय से शरीर कुवड़ा हो।

प्र०—वामन संस्थान नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस के उदय से शरीर वामन (बौना) हो।

प्र०—हुंडक संस्थान नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से शरीर के सब अवयव बेढंगे हों, उसको हुंडक संस्थान नाम कर्म कहते हैं।

प्र०—वर्ण नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस नाम कर्म के उदय से शरीर में काला श्वेत आदि रंग हो।

प्र०—गन्ध नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस नाम कर्म के उदय से शरीर में अच्छी या बुरी गन्ध हो।

प्र०—रस नाम कर्म किसे कहते हैं?

उ०—जिस नाम कर्म के उदय से शरीर में रस हो।

प्र०—स्पर्श नाम कर्म किसे कहते हैं?

उ०—जिस कर्म के उदय से शरीर में कोमल रूक्षादि स्पर्श हो।

प्र० आनुपूर्वी नाम कर्म किसे कहते हैं?

उ०—जिस कर्म के उदय से जीव विग्रह गति में अपने उत्पत्ति स्थान पर पहुँचे।

प्र०—विग्रह गति नाम कर्म किसे कहते हैं?

उ०—वक्रतापूर्वक टेढ़ी गति को।

प्र०—विहायोगति नाम कर्म किसे कहते हैं?

उ०—जिस कर्म के उदय से जीव की चाल हाथी बैल की चाल के समान शुभ हो या ऊँट गधे की चाल के समान अशुभ हो।

प्र०—पराघात नाम कर्म किसे कहते हैं?

उ०—जिस कर्म के उदय से जीव बड़े बड़े बलवानों की दृष्टि में भी अजेय मालूम हो।

प्र०—श्वासोच्छ्वास नाम कर्म किसे कहते हैं?

उ०—जिस कर्म के उदय से बाहरी हवा को शरीर में नासिका द्वारा खींचना (श्वास) और शरीर के अंदर की हवा को नासिका द्वारा बाहर छोड़ना (उच्छ्वास)—ये दोनों क्रियाएँ हों।

प्र०—आताप नाम कर्म किसे कहते हैं?

उ०—जिस कम के उदय स शरीर आताप रूप हो। जैसे सूर्य मंडल।

प्र०—उद्योत नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से उद्योत रूप शरीर हो। जैसे चन्द्र मंडल नक्षत्रादि।

प्र०—अगुरुलघु नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर न शीशे के गोले के समान भारी हो और न अर्कतूल के समान हलका हो।

प्र०—तीर्थंकर नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस नाम कर्म के उदय से तीर्थंकर पद की प्राप्ति हो।

प्र०—निर्माण नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से अंग और उपांग शरीर में अपने अपने स्थान में व्यवस्थित रहें।

प्र०—उपघात नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से जीव अपने ही अवयवों (पड़ जीभ छठी अंगुली आदि) से क्लेश को पावे।

प्र०—त्रस नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से द्वीन्द्रियादि त्रस काय की प्राप्ति हो।

प्र०—बादर नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से जीव को बादर स्थूल काय की प्राप्ति हो।

प्र०—पर्याप्त नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस कर्म के उदय से जीव अपनी अपनी पर्याप्तियों से युक्त हो।

उ०—जिस कर्म के उदय से एक शरीर का एक जीव स्वामी हो।

प्र०—स्थिर नाम कर्म किसे कहते हैं?

उ०—जिस कर्म के उदय से दाँत हड्डी वगैरह शरीर के अवयव स्थिर (अपने अपने ठिकाने रहें) हों।

प्र०—शुभ नाम कर्म किसे कहते हैं?

उ०—जिस कर्म के उदय से शरीर के अवयव सुन्दर हों।

प्र०—सुभग नाम कर्म किसे कहते हैं?

उ०—जिस कर्म के उदय से दूसरे जीव अपने ऊपर बिना कारण प्रीति करें।

प्र०—सुस्वर नाम कर्म किसे कहते हैं?

उ०—जिस कर्म के उदय से स्वर अच्छा हो।

प्र०—आदेय नाम कर्म किसे कहते हैं?

उ०—जिस कर्म के उदय से जीव का वचन सर्व मान्य हो।

प्र०—यशःकीर्ति नाम कर्म किसे कहते हैं?

उ०—जिस कर्म के उदय से संसार में यश और कीर्ति फैले।

(एक दिशा में प्रशंसा फैले उसे कीर्ति कहते हैं और सब दिशाओं में प्रशंसा फैले उसे यश कहते हैं।)

प्र०—स्थावर नाम कर्म किसे कहते हैं?

उ०—जिसके उदय से जीव स्थिर रहे सरदी गरमी आदि से बचने का उपाय न कर सके। इस कर्म के उदय से पृथ्वी अप् तेज वायु और वनस्पति में जन्म होता है।

प्र०—सूक्ष्म नाम कर्म किसे कहते हैं?

उ०—जिस कर्म के उदय से जीव को सूक्ष्म श

न किसी को रोके और न किसी से रुके) की प्राप्ति हो।

प्र०—अपर्याप्ति नाम कर्म किसे कहते हैं?

उ०—जिस कर्म के उदय से जीव पर्याप्ति पूर्ण न करे। इसके दो भेद हैं—१ लब्धपर्याप्ति और २ करण पर्याप्ति। जिस कर्म के उदय से जीव अपनी पर्याप्ति पूर्ण किये विना ही मरे उसे 'लब्ध पर्याप्ति' कहते हैं और जिसके उदय से आहार, शरीर और इन्द्रिय—इन तीन पर्याप्तियों को अभी तक पूर्ण नहीं किया किन्तु आगे करने वाला हो, उसे 'करण पर्याप्ति' कहते हैं।

प्र०—साधारण नाम कर्म किसे कहते हैं?

उ०—जिस कर्म के उदय से एक शरीर के अनन्त जीव स्वामी हों।

प्र०—अस्थिर नाम कर्म किसे कहते हैं?

उ०—जिस कर्म के उदय से कान, भौं और जीभ आदि अवयव अस्थिर अर्थात् चपल हों।

प्र०—अशुभ नाम कर्म किसे कहते हैं?

उ०—जिस कर्म के उदय से शरीर के पैर आदि अवयव अशुभ हों।

प्र०—दुर्भग नाम कर्म किसे कहते हैं?

उ०—जिस कर्म के उदय से दूसरे जीव शत्रुता या वैरभाव करें।

प्र०—दुःस्वर नाम कर्म किसे कहते हैं?

उ०—जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर कठोर अप्रिय हो।

प्र०—अनादेय नाम कर्म किसे कहते हैं?

उ०—जिस कर्म के उदय से जीव का अच्छा भी वचन माह्य न हो।

प्र०—अपयशःकीर्ति नाम कर्म किसे कहते हैं?

उ०—जिस कर्म के उदय से दुनियाँ में अपयश या अपकीर्ति फैले।

प्र०—गोत्र कर्म के कितने भेद हैं?

उ०—दो। १ उच्च और २ नीच। जिस कर्म से अच्छे कुल में जन्म हो उसे उच्च गोत्र कहते हैं और जिस कर्म के उदय से नीच कुल में जन्म हो उसे नीच गोत्र कहते हैं।

प्र०—अन्तराय कर्म के कितने भेद हैं?

उ०—पांच। १ दानान्तराय २ लाभान्तराय ३ भोगान्तराय ४ उपभोगान्तराय और ५ वीर्यान्तराय। यह कर्म दानादि ५ कार्यों में विघ्न करता है अर्थात् दानान्तराय—दान देने में विघ्न का हो जाना लाभान्तराय-वस्तु की प्राप्ति में विघ्न उपस्थित होजाना भोगान्तराय—जो वस्तु एक बार भोगी जाय उसे भोग कहते हैं सो उसके भोगने में विघ्न का होजाना उपभोगान्तराय—जो वस्तु बारम्बार भोगने में आवे उसमें विघ्न का पड़ जाना। इस प्रकार कर्मों की मूल प्रकृतियों और उत्तर प्रकृतियों का संक्षेप से वर्णन किया गया है।

जिस प्रकार एक ग्रास के खाने से शरीर के सात धातु उसी ग्रास के रस से उत्पन्न होते वा वृद्धि पाते हैं ठीक उसी प्रकार एक कर्म करने से फिर उस कर्म के परमाणु कर्मों की मूल प्रकृतियों वा उत्तर प्रकृतियों में बटे जाते हैं अर्थात् परिणत हो जाते हैं। किन्तु स्थिति बन्ध में इस विषय वर्णन

किया गया है कि यावन्मात्र कर्मों की मूल वा उत्तर प्रकृतियाँ है, वे सर्व स्थिति युक्त है। अत स्थिति के पश्चात् फिर वे फल देने में असमर्थ हो जाती हैं। जिस प्रकार काठ वा इन्धन जल कर जब भस्म रूप हो जाता है तब फिर वह द्वितीय वार इन्धन रूप में नहीं आ सकता। ठीक उसी प्रकार जो कर्म एक वार फल दे चुका फिर वह द्वितीय वार फल नहीं दे सकता। क्योंकि उस कर्म ने आत्म प्रदेशों पर अपना अनुभव करा दिया फिर वह फल देने के पश्चात् निष्फल हो जाता है।

सूत्रकर्ता ने कर्मों का फलादेश अनेकान्तरूप से प्रतिपादन किया है। जैसे कि—

अरणत्थियाणं भंते, एवमाइक्खंति जावपरूवेंति सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता एवंभूयं वेयणं वेदंति, से कहमेयं भंते, एवं गोयमा! जरणं ते अरणत्थिया एवमाइक्खंति जाव वेदंति जे ते एवमाहंसुमिच्छा ते एवमाहंसु। अहं पुण गोयमा! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता एवभूयं वेयणं वेदंति, अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता अरोवभूयं वेयणं वेयंति। से केण हेणं अत्थेगइया तं चेव उच्चारियव्वं गोयमा! जेण पाणा भूया जीवा सत्ता जहा कडा कम्मा तहा वेयणं वेदंति तेणं पाणा भूया जीवा सत्ता एवंभूय वेयणं वेदंति। जेणं पाणा भूया जीवा सत्ता जहा कडा कम्मा नो तहा

एवंभूयं वेदंति तेणं पाणा भूया जीवा सत्ता अणेवं वेदंति से तेण ट्ठेणं तहेव ॥

(भगवती सू० शतक ५ उद्देश ५ सू० ९)

भावार्थ—भगवान गौतम स्वामी श्रीश्रमण भगवान् महावीर स्वामी से पूछते हैं कि हे भगवन् ! परमत वाले इस प्रकार कहते हैं यावत् प्ररूपणा करते हैं कि सर्व प्राणी, सर्व भूत सर्व सत्त्व एकान्त रूप से जिस प्रकार कर्म करते हैं ठीक उसी प्रकार उन कर्मों की फल रूप वेदना भोगते (वेदते) हैं सो ये कथन कैसे हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में श्रीभगवान् कहते हैं कि हे गौतम ! जो अन्य यूथिक उक्त प्रकार से कहते हैं वे कथन एकान्त रूप से सत्य नहीं है क्योंकि कर्मों का फल अनेकान्त रूप से अनुभव करने में आता है इसलिये मैं इस प्रकार कहता हूं कि कोई प्राणीभूत जीव और सत्त्व एवंभूत से वेदना भोगते हैं कोई प्राणी भूत जीव और सत्त्व अनेक रूप से वेदना भोगते हैं। इस प्रकार के उत्तर को सुनकर गौतम स्वामी ने फिर प्रश्न किया कि हे भगवन् ! यह कथन किस प्रकार से है ? तब श्री भगवान् ने प्रतिपादन किया कि हे गौतम ! जो प्राणी भूत जीव और सत्त्व जिस प्रकार कर्म करते हैं वे उसी प्रकार उनके फलों का अनुभव करते हैं वे तो एकान्त रूप से एवंभूत वेदना भोगते हैं और जो जिस प्रकार कर्म करते हैं उसी प्रकार से उन कर्मों के फल को अनुभव नहीं करते वे अनेवंभूत वेदना भोगते हैं। क्योंकि कर्मों का बन्धन जीवों के भावों पर ही निर्भर है।

इस कथन से सिद्ध हुआ कि कर्मों का वन्धन और उनका फल रूप अनुभव यह सब जीवों के भावों पर ही निर्भर है। अतः सदैव शुभ योग ही धारण करना चाहिए, जिसके कारण से आत्मा कर्मों के वन्धन से या उनके अशुभ फल से बचा रहे।

यदि इस स्थान पर यह प्रश्न किया जाय कि जब कर्म प्रकृतियाँ इस प्रकार से वर्णन की गई है तो फिर इन से जीव विमुक्त किस प्रकार हो सकता है? इस प्रश्न के समाधान में कहा जाता है कि संवरतत्त्व और निर्जरातत्त्व—ये दोनों ही तत्त्व कर्म प्रकृतियों से सर्वथा विमुक्त कराने में अपनी समर्थता रखते हैं अर्थात् इन्हीं के द्वारा जीव निर्वाणपद प्राप्त कर सकता है। कारण कि जब नूतन कर्म करने का निरोध किया गया अर्थात् संवर किया गया तब स्वाध्याय और ध्यान (योग समाधि) द्वारा प्राचीन कर्म क्षय किये जा सकते हैं, और तब आत्मा सर्व प्रकार की कर्म प्रकृतियों से विमुक्त हो सकता है।

यदि ऐसा कहा जाय कि जब स्वाध्याय और ध्यान द्वारा कर्म क्षय किये जा सकते है तब वह जो स्वाध्याय और ध्यान रूप क्रिया है उसके द्वारा फिर नूतन कर्म आ सकते हैं। इस क्रम से फिर किसी भी आत्मा को मोक्ष पद की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। इस प्रश्न के समाधान में कहा जाता है कि आत्मा के वीर्य और उपयोग रूप दो लक्षण प्रतिपादन किये गए हैं। सो वीर्य तीन प्रकार से प्रतिपादन किया गया है। जैसे कि १ पंडितवीर्य २ वालवीर्य और ३ वालपंडितवीर्य। पंडितवीर्य द्वारा ही कर्म क्षय किये जा सकते हैं, शेष अन्य द्वारा नहीं।

अपथ्य आहार से रोग की वृद्धि होती है और औषध के सेवन से रोग की हानि । यह दोनों प्रकार का पुरुषार्थ जिस प्रकार रोग की वृद्धि और हानि करता है, ठीक उसी प्रकार पंडित वीर्य कर्म क्षय करने में अपनी समर्थता रखता है और बाल वीर्य कर्म की वृद्धि में एक प्रकार से कारणीभूत बन जाता है। अतः पंडित वीर्य द्वारा कर्म क्षय करके निर्वाण पद प्राप्त करना चाहिये ।

सातवाँ पाठ

(अहिंसावाद)

प्रत्येक प्राणी की रक्षा और वृद्धि में अहिंसा एक मुख्य कारण है। यदि प्रेम संपादन करना चाहते हो? यदि निर्वैरता के साथ जीवन व्यतीत करना चाहते हो? यदि सुखमय जीवन व्यतीत करना चाहते हो? यदि शान्तमय जीवन व्यतीत करना चाहते हो? यदि जीवन विकास चाहते हो? यदि धर्म और देशोन्नति चाहते हो? यदि ब्रह्म में लीन होना चाहते हो अर्थात् निर्वाण पद चाहते हो? तब अहिंसा भगवती के आश्रित होजाओ।

अहिंसामय जगत् ही जगदुद्धार कर सकता है नतु हिंसामय। सुरक्षित गोवर्ग ही जगत् का उपकार कर सकता है इसके विपरीत सिंह आदि हिंसक पशु जगत् रक्षण में असमर्थ होते हैं। इसलिये ससार से पार होने के लिये अहिंसा देवी की शरण ग्रहण करनी चाहिये। जिस प्रकार पृथिवी प्राणिमात्र के लिये आधारभूत है। ठीक उसी प्रकार अहिंसा भगवती प्राणिमात्र के लिये आश्रयभूत है। जिस प्रकार आत्मा में ज्ञान तदात्म सम्बन्ध से विराजमान है ठीक उसी तरह अहिंसा भगवती मोक्षेच्छु आत्मा के लिये तदात्म सम्बन्ध से सम्बन्धित होती है। इसीलिए ज्ञानी आत्माओं ने भाषण किया है कि—

एवं खु नाणीयो सारं जं न हिंसइ किंचणं ।
अहिंसा समयं चेव एतावंतं वियाणिया ॥१॥

भावार्थ—श्री भगवान् प्रतिपादन करते हैं कि हे आर्यो ! ज्ञानी के ज्ञान प्राप्त करने का यही सार है जो किसी भी जीव की हिंसा नहीं करे । क्योंकि शास्त्रों का सारभूत एक अहिंसा भगवती ही है ।

इस कथन से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि ज्ञान का सार एक अहिंसा ही है । क्योंकि यदि विद्या अध्ययन करके फिर हिंसा में लग जावे तो वह विद्या नहीं है केवल अविद्या ही है अथवा अज्ञानता ही है । अपितु अहिंसा में उत्पन्न हुई है नतु हिंसा में । अतः अहिंसा के स्वरूप को भली भाँति जान कर फिर अहिंसा भगवती के आश्रय हो कर निजकल्याण वा परोपकार अवश्य करना चाहिए ।

अब इस स्थान पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वास्तव में अहिंसा भगवती का स्वरूप क्या है ? इस प्रश्न के समाधान में कहा जाता है कि—

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ।

(तत्त्वार्थ सूत्र अ० ७ सू० ८)

इस सूत्र में इस विषय का विधान किया गया है कि प्रमत्त योग से जो प्राणों का अतिपात करना है उसी का नाम हिंसा है अर्थात् राग द्वेष के वशीभूत होकर जो अन्य प्राणियों के प्राणों का अपहरण करना है वास्तव में हिंसा उसी का नाम है । यद्यपि हिंसा अनेक कारणों से होती है तथापि वे सब

कारण राग द्वेष के ही अन्तर्गत हो जाते हैं। जैसे कि क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, काम, आशा, स्ववश, परवश, अर्थ, अनर्थ, मूर्खता इत्यादि अनेक कारणों से जीवतव्य, धर्म और अर्थ के लिये हिंसा हो जाती है। किन्तु वे सब कारण राग और द्वेष के ही अन्तर्गत हो जाते हैं। इसलिये सूत्रकार का यह कथन ठीक ही है कि प्रमत्त योग से जो प्राणों का अतिपात होना है, वास्तव में उसी का नाम हिंसा है। क्योंकि हिंसा के कारण वास्तव में जीव के भाव ही होते हैं।

हिंसा के मुख्यतया दो भेद वर्णन किये गए हैं जैसे कि द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा। सकल्प विना जो प्राणों का अतिपात हो जाना है, उसी को द्रव्य हिंसा कहते हैं। जैसे रक्षा करते करते किसी जीव के प्राणों का संहार हो जाता है उसी का नाम द्रव्य हिंसा है। जो स्वसंकल्प पूर्वक हिंसा होती है, उसी को भाव हिंसा कहते हैं।

स्वसंकल्प पूर्वक हिंसा अर्थ और अनर्थ दो तरह से होती है। साधु वर्ग के लिए तो दोनों प्रकार की हिंसा सर्वथा त्याज्य है। क्योंकि साधुत्व में शत्रु और मित्र दोनों समभाव से देखे जाते हैं। इसलिये अहिंसा नामक महाव्रत के पालन करने वाले ही महापुरुष हैं। परंच गृहस्थ वर्ग के लिए अनर्थ हिंसा का परित्याग होता है। क्योंकि संसार में निवास करने से वे अर्थ हिंसा का सर्वथा परित्याग कर ही नहीं सकते। अतः उनके लिये अर्थ और न्यायशीलता अवश्य धारण करनी चाहिये। इसलिए वास्तव में न्यायशीलता का ही नाम अहिंसा है

क्योंकि-जैसे किसी चोर ने चोरी की यदि उसको उसके कर्मानुसार शिक्षित न किया गया तो फिर वह उस क्रिया में और प्रवृत्ति करेगा तथा अन्य मायावी भी फिर उसी का अनुकरण करने वाले हो जायेंगे। कारण कि वे विचार करेंगे कि जब इसको इस कर्म की कोई शिक्षा नहीं मिलती तो फिर इस कर्म करने का हम को क्या डर है। इसलिये इस व्यभिचार को दूर करने के लिये और उस आत्मा की शुद्धि करने के लिये न्याय शीलता की अत्यन्त आवश्यकता है।

यदि दंड (शिक्षा) का नाम भी हिंसा होता तो मुनिगण के लिये प्रायश्चित्त के विधान करने वाले सूत्रों की रचना क्यों होती? इसलिये इससे स्वतः सिद्ध हो जाता है कि वास्तव में न्याय शीलता से जो बर्ताव है उसी का नाम अहिंसा है। इस नियम को सामान्य व्यक्ति से लेकर सम्राट् तक सुखपूर्वक पालन कर सकते हैं। साथ ही जैनशास्त्रकारों ने गृहस्थियों के लिये यह भी प्रतिपादन कर दिया है कि जान कर और संकल्प करके न निरपराधी जीवों की हिंसा का परित्याग करें। किन्तु जो सापराधी हों उनको न्यायपूर्वक शिक्षित करना उनका धर्म है क्योंकि वे गृहस्थ हैं।

पहले भी कहा जा चुका है कि साधुवृत्ति में तो सापराधी और निरपराधी समभाव से ही देखे जाते हैं क्योंकि साधुत्व इसी बात में है। किन्तु गृहस्थों ने गृहस्थाश्रम का निर्वाह करना है इसलिये उन का मुख्य नियम यही होता है कि वे निरपराधी जीवों की हिंसा कदापि न करें और न वे सापराधियों को अन्यायपूर्वक शिक्षित करें।

हिंसा के होने के मुख्य कारण आत्मा के संकल्प ही हैं। यद्यपि मन, वचन और काय के द्वारा भी हिंसा हो जाती है तथापि मानसिक हिंसा बलवती होती है। तथा च पाठः—

जे केइ खुड्डगा पाणा अदुवा संति महालया।
सरिसं तेहिं ति वेरंति असरिसंति यणो वदे ॥६॥
एएहिं दोहिं ठाणेहिं ववहारो न विज्जई।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं अणा यारतु जाणए ॥७॥ (युग्मम्)
(सूय गडांग सूत्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध अ० ५ गाथा ६-७)

दीपिकाटीका-ये केचित् क्षुद्राः प्राणिन. एकेन्द्रियद्वीन्द्रियादयोऽल्पकाया वा पञ्चेन्द्रियाः अथवा महालया महाकाया. सन्ति, तेषां क्षुद्राणा कुंथ्वादीनां महतां हस्त्यादीनां च हनने सदृशं वैरं कर्मवन्धस्तुल्य इत्येकान्तेन नो वदेत् असदृश वा तद्घाते वैरं कर्मवन्ध इन्द्रियज्ञानकामानां विचित्रत्वादित्यपि नो वदेत्। नहि वध्यवशात् कर्मवन्ध किन्तु अध्यवसायवशात्। तीव्राध्यवसायादल्पमपि सत्वं घ्नतो महान् कर्मवन्धः अकामस्तु महाकायप्राणिहननेऽपि स्वल्पवन्ध इत्यर्थः ॥ ६ ॥

'एएहिं' इति—एताभ्या तुल्यातुल्यविरूपाभ्यां स्थानाभ्यां व्यवहारो न विद्यते अध्यवसायस्यैव वन्धावन्धहेतुत्वात्। एताभ्या द्वाभ्यां स्थानाभ्यां प्रवृत्तस्यानाचार जानीयात्। तथाहि नहि जीववधे हिंसा स्यात् तस्य नित्यत्वात्। यदुक्तम्—

पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च उच्छ्वासनिश्वासमथाऽन्यदायुः। प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोजीकरण तु हिंसा ॥ इति।

किञ्च भावापेक्ष एव कर्मबन्धो यथा—वैद्यस्य सम्यक् क्रियां कुर्वतो यद्यपि रोगी म्रियते तथापि न वैद्यस्य कर्मबन्धः । दुष्टाध्यवसायाभावात् । अन्यस्य तु सर्पबुद्ध्या रज्जुमपि घ्नतो भावदोषात् कर्मबन्धः । यदागमः—

उच्चालियंमि पाए इरिया समियस्स संकमट्ठाए ।
वावज्जिज्ज कुलिंगी मरिज्ज तज्जोगमासज्ज ॥१॥
न य तस्स तन्निमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिओ समए ।
अणवज्जो उपओगेण सव्व भावेण सो जम्हा ॥२॥

इत्यादि । तथा तंदुलमत्स्याख्यानकं तु सुप्रसिद्धमेव ॥७॥

भावार्थ—इस सूत्र में इस विषय का वर्णन किया गया है कि यदि किसी व्यक्ति से क्षुद्र (सूक्ष्म) जीव की मृत्यु हो गई है या किसी से स्थूल जीव की मृत्यु हो गई है तो ऐसे एकान्त से न कहना चाहिए कि क्षुद्र जीव मारने का थोड़ा पाप है और स्थूल जीव मारने का बहुत पाप है या स्थूल का थोड़ा पाप और सूक्ष्म का बड़ा पाप है। इस प्रकार बोलने से व्यवहार ठीक नहीं रह सकता । कारण कि पापकर्म का बन्ध सूक्ष्म वा स्थूल जीव के वध पर निर्भर नहीं है वह तो जीव के तीव्र वा मन्द भावों पर ही निर्भर है ।

अतएव निष्कर्ष यह निकला कि हिंसा जीव के भावों पर ही निर्भर है । वैद्य वा डाक्टर के रोगी की रक्षा करते करते यदि रोगी की मृत्यु हो जाए तब वे प्राणिवध के करने वाले नहीं माने जा सकते नाहीं वे राज्यशासन में शिक्षा के पात्र ही बनते हैं । सो भावहिंसा तीनों योग पूर्वक होती है और द्रव्यहिंसा शुभ मनोयोग से भी हो जाती है ।

अब इस स्थान पर यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि अर्थहिंसा और सापराधी किसे कहते है ? इस प्रश्न के समाधान में कहा जाता है कि किसी प्रयोजन को मुख्य रखकर या किसी प्रयोजन के लिये जो आरम्भादि क्रियाएं की जाती है, उन्हीं को अर्थहिंसा कहते है । जैसे—स्नानादि के लिये जलादि का प्रयोग करना, शालादि बनवाने के लिये उस की सामग्री को एकत्रित करना, अर्थात् सप्रयोजन हिंसा का नाम ही अर्थहिंसा है । किन्तु जो व्यक्ति अपना अपराधी हो उसी को सापराधी कहते हैं । जैसे किसी व्यक्ति ने किसी की कोई वस्तु चुराली या किसी को मारा तथा किसी ने किसी स्त्री से बलात्कार किया—इत्यादि अपराधों के सिद्ध हो जाने पर फिर अपराधी को शिक्षित करना उसी को सापराधी शिक्षा कहते हैं ।

अतः गृहस्थी लोगों के लिये निरपराधी और अनर्थ हिंसा का त्याग प्रतिपादन किया गया है ।

जो आत्मा निरपराधी है, अनाथ है, किसी का कुछ भी नहीं बिगाड़ते, उन जीवों की हिंसा में कटिबद्ध हो जाना यह केवल अन्यायता और अनर्थ हिंसा है । जैसे—आखेटक (शिकार) कर्म करना, तथा मास भक्षण करना, वा हास्यादि के वशीभूत होकर जीवहिंसा करना । जिस प्रकार बहुत से बालक अज्ञानता के वश होकर वर्षा ऋतु में मेंडकों को पत्थरों से मारते है या पीत तथा लाल वर्णवाले जीवों को मारते है । यह सब अनर्थ हिंसा है ।

यद्यपि द्रव्य हिंसा द्वारा भी बहुत से कर्मों का बन्ध किया

जाता है तथापि भावहिंसा द्वारा अति निविड कर्मों का बन्ध किया जा सकता है। क्योंकि भावहिंसा के करने में मनोयोग की मुख्यता मानी जाती है। अतः मन में जीवों के लिये हानि करने वाले उपायों का अन्वेषण करना भावहिंसा है। किसी की वृद्धि को देखकर मन में जलन उत्पन्न करना और फिर उस को कष्ट उत्पन्न हो जाए, उस की वृद्धि में विघ्न उत्पन्न हो जाए, इत्यादि मनोयोग द्वारा उपायों का अन्वेषण करते रहना—ये सब भाव हिंसा के कारण हैं। मन में कृष्ण लेश्या द्वारा प्रत्येक प्राणी के नाश करने के भाव उत्पन्न करने और मन से प्रत्येक प्राणी से वैर रखना ये सब भाव हिंसा के ही कारण हैं। जिस प्रकार अशुभ मनोयोग धारण करने से भाव हिंसा होती है ठीक उसी प्रकार अशुभ वचन योग द्वारा भी भावहिंसा हो जाती है जैसे कि जान कर क्रोध उत्पन्न कर देना तथा चुगली करना (खाना) इतना ही नहीं किन्तु प्रत्येक प्राणी की निन्दा करते रहना ये सब भाव हिंसा के ही कारण हैं। वचन योग द्वारा अशुभ वचनों का प्रयोग करना जिस से अन्य प्राणियों की हिंसा हो जाए वा उनको मानसिक वेदना उत्पन्न हो जाए—ये सब कारण भावहिंसा के ही हैं। इसी प्रकार काययोग विषय में भी जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिस हिंसा में क्रोध मान माया और लोभ का उदय है उसी का नाम भावहिंसा है। किन्तु जिस हिंसा में उक्त कारणों का उदय नहीं है वही द्रव्य हिंसा है।

वास्तव में गृहस्थावास में न्यायपूर्वक वर्तमान करते हुए प्राणी भी निर्वाणपद के अधिकारी हो सकते हैं। जिस प्रकार

भरत चक्रवर्ती ने षट् खण्ड का न्यायपूर्वक राज्य करते हुए फिर अन्त में शुभ भावनाओं द्वारा निर्वाणपद की प्राप्ति की ठीक इसी प्रकार शान्तिनाथ जी, कुन्थुनाथ जी, अमरनाथ जी— ये तीनों तीर्थंकर गृहस्थावस्था में चक्रवर्ती की पदवी प्राप्त कर और षट् खण्ड का न्यायपूर्वक राज्यशासन करके फिर तीर्थंकर पद प्राप्त करके निर्वाणपद प्राप्त कर गए। यदि राज्य शासन करते हुए उनकी अनर्थ रूप भावहिंसा होती तो वे कदापि निर्वाणपद प्राप्त न कर सकते। क्योंकि इस वर्णन से प्रतिपक्ष में एक विपाक सूत्र में मृगापुत्र का वर्णन किया गया है कि उसने अत्यन्त दुःखित होकर दीर्घकाल तक संसारचक्र में परिभ्रमण किया। उस के पूर्व जन्म के विषय का वर्णन करते हुए लिखा है कि वह पूर्व जन्म में एक एकाई राष्ट्र कूट नामक ५०० सौ ग्रामों का शासन करने वाला अधिपति था, उस ने ५०० सौ ग्रामों के साथ अन्याय से वर्त्ताव किया था जिस से उसने दीर्घ संसार के कर्मों की उपार्जना की। इस कथन से स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि वास्तव में न्याय का ही नाम अहिंसा है।

बहुत सी अनभिज्ञ आत्माएँ इस प्रकार से प्रलाप करती हैं कि जैनमत की अहिंसा के कारण से ही भारतवर्ष का अधोपतन हुआ है। यह सब उन की अनभिज्ञता ही है। क्योंकि जब जैनमत का राज्यशासन भारतवर्ष पर चलता था उस समय किसी भी विदेशी राजा का भारत पर आक्रमण हुआ ही नहीं यदि कोई हुआ है तो वह पराजित हो गया। इस विषय में पाठकों को महाराजा चन्द्रगुप्त का

इतिहास पढ़ना चाहिए। हाँ यह बात तो निर्विवाद सिद्ध है कि भारतवर्ष के अधोपतन के मुख्य कारण हिंसा परस्पर फूट परस्पर द्वेष ईर्ष्या असूया प्रत्येक व्यक्ति के साथ घृणा अछूत का राग परस्पर वैमनस्य भाव इत्यादि हुए हैं न तु अहिंसा। यह बात भली प्रकार से मानी हुई है कि जहाँ पर अहिंसा भगवती की पूजा होती है वहाँ पर ही प्रेम उत्पन्न होता है और जहाँ प्रम होता है वहाँ ही परस्पर सहानुभूति होती है। जिस के कारण से फिर लक्ष्मी भी स्थिर होजाती है। अतएव सिद्ध हुआ कि अधोपतन का कारण हिंसा है न तु अहिंसा। इस लिए अहिंसा का स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति को सूक्ष्म दृष्टि से अन्वेषण करना चाहिए। श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का मुख्योपदेश यही है कि—

सव्वे पाणापियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पिय वहा पियजीविणो जीविउकामा सव्वेसिं जीवियं पियं।

(आचारांग सूत्र मोती वाला पृ० सं० २१)

अर्थ- सब जीव आयुष्य और सुख को चाहते हैं दुःख और मृत्यु सब का अप्रिय है। हर एक प्रियजीवी हैं और जीने की वृत्ति रखते हैं जीना सबको प्यारा लगता है।

इस सिद्धान्त के आश्रित होकर कभी भी अन्याय से न चलना चाहिए क्योंकि जब किसी निरपराधी आत्मा के प्राण ही छीन लिए तो भला इससे बढ़कर और अन्याय क्या हो सकता है ? अतः न्यायपूर्वक वर्त्ताव करते हुए अहिंसा भगवती की आज्ञा पालन करनी चाहिए जिससे धर्म और देश का अभ्युदय हो।

यह बात भी भली प्रकार प्रसिद्ध है कि जब अहिंसा-वादियों का बल वा राज्य होता है तब हिंसक जन अपने आप शान्त हो जाते हैं। इतना ही नहीं किन्तु बहुत से अधर्मी जन भी प्राय. धर्म से जीवन व्यतीत करने वाले बन जाते हैं। यह सब अहिंसा भगवती का ही माहात्म्य है क्योंकि जब अन्यायशील व्यक्तियां न्याय शील शासन को देखती है, तब उनके मन में अन्याय शीलता के भाव इस प्रकार भागते हैं जिस प्रकार रवि किरणों से अन्धकार भाग जाता है। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि अहिंसामय शासन ही जनता के लिए सुखप्रद हो सकता है।

अब इस स्थान पर यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यदि किसी व्यक्ति ने त्रस प्राणी के वध करने का परित्याग कर दिया तो फिर किसी समय पृथिवी आदि के आरभ करते समय उससे यदि किसी त्रस प्राणी की हिंसा होजाए तो क्या फिर उसका नियम ठीक रह सकता है ? इस शका के समाधान में भगवती सूत्र में इस प्रकार से लिखा है कि—

समणोवासगस्सणं भंते । पुव्वामेव तसपाणसमारंभे पच्चक्खाए भवति पुढविसमारंभे अपच्चक्खाए भवइ से य पुढविं खणमाणेऽएणयरं तसं पाण विहिंसेज्जा से णं भंते । तं वयं अतिचरति । णो तिणट्ठे समट्ठे। नो खलु से तस्स अतिवायाए आउट्टति । समणोवासयस्सणं भंते । पुव्वामेव वणस्सइसमारंभे पच्चक्खाए से य पुढविं खण माणे अन्नयरस्स रुक्खस्स मूलं छिंदेज्जा से णं भंते । तं

वध मतिचरति । यो तिचाइ समठे नो खलु तस्स मय वायाए माउट्टति ॥

(भगवती सूत्र शतक ७ उद्देश १ सू० २६६)

टीका—श्रमणोपासकाधिकारादेव "समणोवासये" त्यादि प्रकरणम् । तत्र च 'तसपाणसमारंभे त्ति त्रसवधः नो खलु से तस्स अतिवायाए आउट्टइ' इति न खलु तस्य त्रसप्राणस्य अतिपाताय वधाय आवर्तते प्रवर्तते इति न सङ्कल्पवधोऽसौ सङ्कल्पवधादेव च निवृत्तोऽसौ न चैव तस्य संपन्न इति ना नातिचरति व्रतम् इति ॥

भावार्थ—इस सूत्र में इस विषय का प्रतिपादन किया गया है कि श्री गौतम स्वामी जी श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से पूछते हैं कि-हे भगवन् ! किसी श्रमणोपासक ने त्रस प्राणी के वध का परित्याग कर दिया किन्तु उसके पृथ्वी काय के समारंभ का त्याग नहीं है तो फिर उससे किसी समय पृथिवी को खनन हुए उसी के द्वारा यदि किसी त्रस जीव की हिंसा होजावे तो क्या फिर उस का नियम ठीक रह सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में श्री भगवान् कहते हैं कि हे गौतम ! उस का नियम ठीक रह सकता है क्योंकि उसका संकल्प त्रस जीव के मारने का नहीं है इसीलिये उसको व्रत में अतिचार नहीं लगता है ।

प्रश्न- हे भगवन् ! श्रमणोपासक ने वनस्पति काय के आरंभ का परित्याग किया हुआ है किन्तु पृथिवी काय के समारंभ का त्याग नहीं किया है अतः पृथिवी काय को खनता हुआ किसी अन्य वृक्ष के मूल को छेदन कर देवे तो ... !

क्या उसके गृहीत नियम में अतिचार (दोष) लगता है ?

उत्तर—हे गोतम ! नहीं लगता है । क्योंकि उसका संकल्प वृक्ष के मूल छेदन करने का नहीं हैं ।

इस लिए उक्त दोनों प्रश्नों के उत्तर से भली भांति सिद्ध हो गया है कि हिंसा का भाव जीव के भावों पर ही निर्भर है। अतएव भाव हिंसा जीवों के भावों पर ही निर्भर है किन्तु द्रव्य हिंसा व्यावहारिक हिंसा कहलाती है ।

गृहस्थ लोगों का मुख्य नियम यह है कि—न्याय पूर्वक वर्त्तना चाहिए । किन्तु भावना सदा यही होनी चाहिए कि सर्व प्राणिमात्र की हिंसा से निवृत्त होकर आत्म समाधि लगानी चाहिए। जिससे निर्वाण पद की प्राप्ति हो सके और आत्मा अहिंसा के प्रभाव से संसारी वर्ग का उपास्य देव बन सके। क्योंकि इस अहिंसा भगवती के माहात्म्य से ही आत्मा पूर्णतया प्रेम संपादन कर सकता है। फिर उस धार्मिक प्रेम द्वारा प्राणिमात्र से निर्वैरता धारण करता हुआ निर्वाण पद प्राप्त कर सकता है जिससे फिर वह संसार चक्र के जन्म मरण रूप आवर्त्तन से छूट कर सादि अपर्यवसित पद वाला सिद्ध भगवान् बन जाता है अर्थात् अपुनरावृत्ति वाला होकर परमेश्वरत्व भाव को धारण कर अनन्त और अक्षय आनंद में निमग्न होकर अनन्त काल मोक्ष में ठहरता है अर्थात् शास्वत पद को धारण कर लेता है।

आठवाँ पाठ

(सत्यवाद)

आत्मा को स्वच्छ और विकसित करने वाला समाधि का सोपान स्वाध्याय और ध्यान का मुख्य कारण आस्तिक वाद की सिद्धि में अद्वितीय कारण प्रत्येक प्राणी के हृदय में विश्वास उत्पन्न करने वाला आर्त और रौद्र ध्यान को छोड़ कर धर्म शुक्ल ध्यान में आत्मा को प्रतिष्ठित करने वाला पदार्थों के स्वरूप को यथावत् निर्भयता पूर्वक कहने वाला प्राणिमात्र का हित करने वाला एक सत्यवाद ही है। इस के आश्रित हुए प्राणी नाना प्रकार के संकटों से छूटकर निजानन्द *की प्राप्ति कर लेते हैं। सत्य प्रत्येक प्राणी के लिये अभयमूल है।* सत्यवादी के मन में न विषाद और न भय ही उत्पन्न होता है किन्तु उसके मन में साहस और धैर्य सदैव बने रहते हैं। सत्यवादी के मन में व्याकुलता और अशान्ति कभी उत्पन्न नहीं होती। उसके चित्त में प्रसन्नता और परोपकार की स्फुरणा स्फुरित होती रहती है। सत्य आसेवी की बुद्धि इस प्रकार विकसित होने लगती है जिस प्रकार वर्षा की मन्द धारा से पुष्प विकसित होते हैं। उस का मन परोपकार की ओर इस प्रकार से दौड़ता है जिस प्रकार प्रातःकाल में सूर्य की किरणें विस्तृत होकर स्वक्षेत्र को प्रकाशित करने लगती हैं। अतः सत्य धारण करना अत्यावश्यक है।

अब इस स्थान पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सत्य किसे कहते हैं ? इस प्रश्न के समाधान में कहा जाता है कि जिस प्रकार से पदार्थ हो उसे उसी प्रकार से मानने को सत्य कहते हैं। तथा प्रत्येक द्रव्य गुण पर्याय वाला माना गया है वा सत् द्रव्य का लक्षण है किन्तु द्रव्य उसको कहते हैं जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्य गुणवाला होता है। ऐसा कोई भी द्रव्य नहीं है जो उक्त तीन गुणों वाला न हो। अतएव सिद्ध हुआ कि प्रत्येक द्रव्य जिस प्रकार से हो उस को उसी प्रकार से मानना सत्य का लक्षण है। इसलिये जिज्ञासुओं के बोध के लिये सत्य के दो भेद कर दिये गए हैं। जैसे कि द्रव्य (व्यावहारिक) सत्य और भाव सत्य। द्रव्य सत्य उस का नाम है जिसका प्रत्येक व्यावहारिक क्रियाएं करते समय ध्यान रक्खा जाए। मुख से वही वात कहनी चाहिए जिस के पूर्ण करने की शक्ति अपने में देखी जाय। असत्य विश्वास देना बहुत ही निन्द्य है। जो व्यक्तियां अपने यश के लिये अन्य व्यक्तियों को असत्य विश्वास देती है वे अन्त में निज अविश्वास को ही उत्पन्न कर लेती है फिर वे चाहे सत्य कथन ही करें, लोग सहसा उन पर विश्वास नहीं करते। फिर उन का नाम जनता में असभ्यता से लिया जाता है न उन की सहायता के लिये ही फिर कोई उद्यत होता है। अपितु उन को फिर नाना प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ता है। अत एव व्यावहारिक कार्यों म भी असत्य का प्रयोग न करना चाहिए। जो व्यक्ति करते हैं, वे व्यवहार का नाश करते हैं

यह बात भली प्रकार मानी हुई है कि सर्व श्रेष्ठ कार्यों की सिद्धि सत्यद्वारा ही हो सकती है। सत्य द्वारा ही प्राणी प्रत्येक व्यक्ति का विश्वास पात्र बन जाता है। इस लिये प्रत्येक व्यक्ति को योग्य है कि वह द्रव्य सत्य भाषण करने का अभ्यास करे। सत्य भाषी के लिये योग्य है कि वह १ क्रोध २ लोभ ३ भय और ४ हास्य का परित्याग करे तब ही सत्य की रक्षा हो सकेगी। तथा प्राणिमात्र विग्रह के स्थान हैं उन के उक्त ही मुख्य कारण हैं।

अतः प्रत्येक व्यक्ति को मित मधुर और सत्य भाषी बनने के लिये कटिबद्ध होना चाहिए। प्राणान्त कष्ट होने पर भी असत्य का प्रयोग कदापि न करना चाहिए। क्योंकि शास्त्र में लिखा है कि—

मुसावाउ लोगम्मि सव्व साहु ओमगरिहिओ।
अविस्सासो य भूयाणं तम्हा मोसं विवज्जए ॥१॥

अर्थात् असत्यवाद लोक में सर्व साधुओं द्वारा गर्हित तथा प्राणिमात्र के लिये अत्यन्त अविश्वास का कारण है। अतः मृषावाद विवर्जित है अर्थात् असत्य भाषण न करना चाहिए।

जब द्रव्य सत्य को भाषण करने का अभ्यास पड़ जायगा तो फिर भाव सत्य के लिये भी पूर्णतया अन्वेषण किया जा सकेगा। द्रव्य सत्य का पालन करना तो अत्यन्त सुगम है किन्तु भाव सत्य का अन्वेषण करना असाध्य नहीं तो कठिन तर तो अवश्य है। क्योंकि यावन्मात्र मत मद हैं वे सब भाव सत्य के अन्वेषण न करने के ही फल हैं या यों कहिये भाव सत्य के न समझने के ही कारण हैं।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि भाव सत्य किसे कहते हैं? इस प्रश्न के समाधान में कहा जाता है कि जिस प्रकार के पदार्थ हों उनको उसी प्रकार से माना जाए उसी का नाम भाव सत्य है, जो उन पदार्थों के स्वभाव से विपरीत माना जाए, वही भाव असत्य है।

भाव असत्य किसे कहते हैं? इस प्रश्न के समाधान में कहा जाता है कि भाव असत्य दो प्रकार का वर्णन किया गया है जैसे कि १ विद्यमान पदार्थों का न मानना और २ अविद्य-मान का मानना अर्थात् १ भाव को अभाव मानना और २ अभाव को भाव मानना—यही भाव असत्य है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब तक उक्त दोनों विषयों की व्याख्या न की जाएगी तब तक बहुत सी अन-भिज्ञ आत्माएँ भाव असत्य से किस प्रकार से बच सकेंगी? इस प्रश्न के समाधान में कहा जाता है कि यदि जिज्ञासुओं को व्याख्या से लाभ होसकता है तो मैं संक्षेप से उक्त विषय की व्याख्या कर देता हूँ जिस से पाठक भाव असत्य का परित्याग करके सुगमता पूर्वक भाव सत्य के आश्रित हो सकें।

१ भाव को अभाव मानना—जैसे आत्मा सत्य पदार्थ है उसको न मानना—तथा आत्म पदार्थ की उत्पत्ति पांच भूतों से मान लेना—इसी का नाम भाव को अभाव मानना है। क्योंकि यह बात भली प्रकार मानी गई है कि कारण के सदृश ही कार्य होता है जैसे तन्तुओं से वस्त्र। सो जब पांच भूत ही आत्म पदार्थ के कारण मान लिये गए तो फिर यह शंका हो

सकती है कि पांच भूत तो जड़ पदार्थ हैं वे चेतन की उत्पत्ति में कारण भूत कैसे बनेंगे ? जड़ता गुण होने से। जैसे कि कल्पना करो १ पृथ्वी तत्व से शरीर की अस्थियाँ बन गईं २ जल तत्व से रुधिर बन गया ३ अग्नि तत्व से जठराग्नि उत्पन्न हो गई ४ वायु तत्व से श्वासोच्छ्वास होगया और ५ आकाश तत्व से शरीर में अवकाश बना रहा। अब बतलाइए चैतन्य सत्ता किस तत्व से उत्पन्न हुई मानी जाए। क्योंकि पांच भूत तो जड़ता गुण वाले हैं। इस लिये आत्मा का अभाव मानना वा पांच भूतों से उत्पन्न हुआ मानना यही भाव को अभाव रूप मानना मात्र असत्य है।

यदि ऐसा कहा जाय कि जिस प्रकार घड़ी (घंटा) ठीक समय बतलाती है ठीक समय पर ही घंटा बजता है ठीक उसी प्रकार पांच भूतों से चैतन्य शक्ति भी उत्पन्न हो सकती है ? इस शंका के समाधान में कहा जाता है कि यह दृष्टान्त विषम है अतः माननीय नहीं। क्योंकि एक तो घड़ी का कर्त्ता कोई चैतन्य है द्वितीय घड़ी ने ठीक समय तो बतला दिया परन्तु उस का उसे ज्ञान नहीं। यदि कहा जाय कि उस समय घड़ी को भी ज्ञान है तो घड़ी से पूछे जाने पर कि तूने कितने घंटे बजाए हैं क्या वह उत्तर प्रदान करेगी ? तथा यदि घड़ी से यह कहा जाए कि यदि तुम बोल नहीं सकती हो तो तुम द्वितीय बार ही घंटा बजा दो तो क्या घड़ी वह क्रियाएँ करने लग जाएगी ? नहीं। अतः सिद्ध हुआ कि चेतन की उत्पत्ति में घड़ी का दृष्टान्त कार्य साधक नहीं है। इसी प्रकार फोनोग्राफ तथा बोलने वाले सिनेमा ...

में भी जानना चाहिए। क्योंकि वे दोनों पदार्थ स्वयं उस ज्ञान से वंचित ही रहते हैं। इसलिये पांच भूतों से चेतन की उत्पत्ति मानना युक्तियुक्त नहीं है। इस प्रकार से अन्य वस्तुओं के विषय में भी जानना चाहिए।

जो वस्तु स्वयं सत्यता रखती हो फिर उसका अभाव मान बैठना, यही एक भाव को अभाव मानना भाव असत्य का प्रथम भेद है। भाव असत्य का दूसरा भेद अभाव से भाव मानना है तथा असद् भावरूप है। जैसे कि किसी वस्तु में वह गुण तो नहीं है परन्तु विवक्षित गुण की असत्य कल्पना उस पदार्थ से सिद्ध करने की चेष्टा करना। जैसे—ईश्वर कर्तृत्व विषय।

अब पाठकों के सुबोध के लिये प्रश्नोत्तर रूप में यत्-किञ्चिन्मात्र ईश्वर कर्तृत्व विषय कहते है।

प्रश्न—क्या जैनी लोग ईश्वर का अस्तित्व भाव मानते है?

उत्तर—हाँ, मानते है।

प्रश्न—ईश्वर में मुख्य मुख्य कौन से गुणों का सद्भाव माना जाता है?

उत्तर—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अक्षय सुख, और अनन्त शक्ति।

प्रश्न—क्या इन गुणों से अतिरिक्त और गुण भी ईश्वर में माने गए हैं?

उत्तर—हाँ, ये तो मुख्य मुख्य गुण बतलाए गए है किन्तु ईश्वर परमात्मा तो अनन्त गुणो का स्वामी है।

प्रश्न—जैन मत में ईश्वर के पर्यायवाची नाम कौन कौन से है?

उत्तर—सिद्ध, बुद्ध, पारंगत परम्परागत अजर अमर, विभु योगीश्वर, एक अचिन्त्य असंख्य इत्यादि अनेक नाम ईश्वर परमात्मा के कथन किये गए हैं।

प्रश्न—क्या जैनमत परमात्मा को सर्व व्यापक भी मानता है?

उत्तर—हाँ, जैनमत सिद्ध परमात्मा को सर्व व्यापक भी मानता है।

प्रश्न—सर्व व्यापक किस प्रकार से मानता है?

उत्तर—ज्ञान से वा उपयोगात्मा से।

प्रश्न—क्या परमात्मा शरीर से व्यापक नहीं है?

उत्तर—नहीं है, क्योंकि उस का शरीर नहीं है।

प्रश्न—क्या वह आत्म प्रदेशों से व्यापक नहीं है?

उत्तर—जीव आत्म प्रदेशों द्वारा लोकाकाशप्रमाण व्यापक हो सकता है, किन्तु समय के बीच समुद्घात करते हुए उस के केवल आठ समय प्रमाण ही काल होता है।

प्रश्न—ज्ञान से सर्वत्र व्यापक किस प्रकार हो सकता है?

उत्तर—जिस प्रकार सूर्य किरणों द्वारा परिमित क्षेत्र में व्यापक है वा किरणों द्वारा परिमित क्षेत्र प्रकाशित करता है ठीक उसी प्रकार सिद्ध परमात्मा भी लोकालोक में ज्ञान द्वारा व्याप्त है।

प्रश्न—क्या परमात्मा प्रेरक नहीं है?

उत्तर—नहीं है।

प्रश्न—तो फिर क्या है?

उत्तर—वह द्रष्टा है।

प्रश्न—तो क्या जैनमत ईश्वर-परमात्मा को जगत् कर्ता नहीं मानता ?

उत्तर—नहीं मानता। क्योंकि उस मे यह गुण नहीं है।

प्रश्न—यदि जगत् ईश्वर ने नहीं बनाया तो क्या जगत् अपने आप बन गया ?

उत्तर—यदि जीव ईश्वर ने नहीं बनाया तो क्या फिर जीव अपने आप बन गया ?

पूर्वपक्ष—जीव तो अनादि है, इसलिये इस का कर्ता कोई नहीं है।

उत्तरपक्ष—इसी प्रकार काल (प्रवाह) से जगत् भी अनादि है।

पूर्वपक्ष—हम देखते हैं यावन्मात्र संसार के पदार्थ हैं, उनका कोई न कोई कर्ता अवश्य है जैसे शालादि। इसी प्रकार जगत् का कर्ता भी ईश्वर अवश्य होना चाहिए।

उत्तरपक्ष—संसार में यावन्मात्र पदार्थ हैं उनके पर्यायों का कर्ता है नतु द्रव्य का। जैसे कुलाल घट का कर्ता है न कि मिट्टी का। इसी प्रकार किसी किसी पर्यायों का कर्ता तो हम भी मानते हैं।

पूर्वपक्ष—किस को मानते हो ?

उत्तरपक्ष—उस पर्याय करने वाले जीव को। तथा द्रव्य की बहुत सी पर्यायें स्वयमेव उत्पन्न हो जाती हैं और फिर उनका स्वयमेव प्रलय हो जाता है जैसे कि वर्षा के समय इन्द्र धनुष बन जाया करता है। अब वेचारे उस इन्द्र धनुष को कौन बना रहा है ? तथा बादलों में नाना प्रकार की आकृतियाँ

बन आया करती हैं इन आकृतियों को कौन बना रहा है? तथा बालू की राशि में बहुत सी बालू की कणिका चमकती हैं इन्हें कौन चमका रहा है?

पूर्वपक्ष—आप पदार्थों का भाव किस प्रकार से मानते हैं और उनकी फिर पर्याय (हालतें) किस प्रकार मानते हैं?

उत्तर—हम पदार्थों का भाव (गुण) उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप मानते हैं, फिर उन की स्वतः वा परतः रूप से पर्याय मानते हैं।

पूर्वपक्ष—आप इसका अर्थ सुनाइए।

उत्तरपक्ष—सुनिए। पदार्थ का मूल तत्त्व तो सदैव ध्रौव्य रूप में ही रहता है किन्तु उसके पूर्व पर्याय का व्यय और उत्तर पर्याय का उत्पाद होता रहता है। जैसे—किसी व्यक्ति ने सुवर्ण के कंकणों का कंठा (मीनामरण) बनवा लिया तब कंकणों की आकृति का व्यय और कंठ के आकार की उत्पत्ति हुई किन्तु सुवर्णता दोनों अवस्थाओं में ध्रौव्य रूप से रहती है। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ की अवस्था है किन्तु कंकण वा हार की आकृति करने वाला सुवर्णकार है न तु ईश्वर। इसी प्रकार प्रत्येक पर्याय स्वतः भी उत्पन्न हो जाती है करने से भी हो जाती है। किन्तु पर्यायों का कर्ता ईश्वर नहीं माना जा सकता।

पूर्वपक्ष—आप अनादि अनन्त पदार्थ किस प्रकार से मानते हैं?

उत्तरपक्ष—हम केवल अनादि अनन्त ही मानते हैं किन्तु चार प्रकार से पदार्थों के स्वरूप को मानते हैं। जैसे कि—

१ अनादि अनन्त २ अनादि सान्त ३ सादि अनन्त ४ सादि सान्त ।

पूर्वपक्ष—आप इन चारों का स्वरूप कोई दृष्टान्त देकर समझावें ।

उत्तरपक्ष—सुनिये । जैसे जीव द्रव्य वास्तव में अनादि अनन्त है क्योंकि न तो इसकी उत्पत्ति है और न इसका विनाश है, इस को अनादि अनन्त माना जाता है । यद्यपि भव्य जीव मोक्ष गमन के योग्य है परन्तु उसके साथ लगे हुए कर्म पुद्गल अनादि सान्त है। क्योंकि कर्मों की आदि तो सिद्ध नहीं होती किन्तु जब वह उन से छूट कर मोक्षगमन करेगा तब उस अपेक्षा उस जीव की पर्याय को अनादि सान्त कहा जाता है । जब उस जीव का मोक्ष हो गया तब उस पर्याय की अपेक्षा से उसे सादि अनन्त कहा जाता है । क्योंकि मोक्ष कर्मों के फल से उपलब्ध नहीं होता किन्तु कर्म क्षय से मोक्ष पद की प्राप्ति होती है इस लिये निर्वाण पद अपुनरावृत्ति वाला माना गया है और फिर वही जीव जब गतागति करता है तब उस में सादि सान्त भंग बन जाता है। जैसे मनुष्य पर्याय को छोड़ कर जीव देव पर्याय को प्राप्त हो गया इस अपेक्षा से-जीव सादि सान्त पद वाला बन गया । अभव्य आत्माओं के साथ कर्मों का सम्बन्ध अनादि अनन्त माना गया है । इस प्रकार पदार्थों के भावों का वर्णन किया गया है किन्तु जो पुद्गल द्रव्य है वह तो अनादि अनन्त है फिर उसका पर्याय सादि सान्त है । जिस प्रकार मिट्टी का पर्याय रूप घट, मिट्टी का पुद्गल रूप तत्त्व अनादि अनन्त है किन्तु उसका पर्याय

रूप सादि सान्त है। सो इन पर्यायों का कर्त्ता जीव है न कि ईश्वर।

पूर्वपक्ष—जैन मत ईश्वर को कर्त्ता क्यों नहीं मानता?

उत्तरपक्ष—ईश्वर को कर्त्ता मानने में जैनों को कोई आग्रह तो नहीं है किन्तु वह कर्त्ता सिद्ध नहीं हो सकता।

पूर्वपक्ष—सिद्ध क्यों नहीं हो सकता?

उत्तरपक्ष—आप युक्ति द्वारा वा शास्त्रीय प्रमाणों से सिद्ध करें।

पूर्वपक्ष—देखो वह सब का प्रेरक है। उसी की प्रेरणा से सब क्रियायें होती हैं।

उत्तरपक्ष—अन्याय जीव हिंसा असत्यवाद मैथुन क्रीड़ा, व्यभिचारादि सब कुकर्म क्या उसी की प्रेरणा से होरहे हैं? क्या उस की ही प्रेरणा से संसार दुःखित हो रहा है?

पूर्वपक्ष—तो आप उसको प्रेरक नहीं मानते?

उत्तरपक्ष—नहीं मानते।

पूर्वपक्ष—तो फिर आप उसको क्या मानते हो?

उत्तरपक्ष—सर्व भावों का द्रष्टा सर्वज्ञ और सर्व दर्शी होने से जैसे सूर्य प्रकाशक तो है किन्तु प्रेरक नहीं है। इसी प्रकार परमात्मा सर्व पदार्थों का ज्ञाता तो है किन्तु प्रेरक नहीं है।

प्रश्न—तो क्या ईश्वर को कर्त्ता मानने पर कोई दोषापत्ति आती है?

उत्तर—हाँ प्रिय! अनेक दोष आते हैं जिससे ईश्वर की ईश्वरता ही नहीं ठहर सकती।

पूर्वपक्ष—आपकी यह बात नहीं मानी जा सकती। क्यों

कि ईश्वर परमदयालु, सब का प्रेरक, सर्वशक्तिमान्, सर्व व्यापक, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वेदवक्ता, जगत्स्रष्टा, प्रलय कर्ता, न्याय शील और स्वतन्त्र है। अतः उस पर दोषारोपण करना युक्ति युक्त नहीं है।

उत्तरपक्ष—मित्रवर! यदि आपके कथनानुसार ही उक्त गुण माने जायें तब फिर कर्ता मानने पर उक्त गुण उसमें स्वयमेव नहीं ठहर सकते।

पूर्वपक्ष—आप उक्त गुणों के होने पर और फिर कर्ता मानने पर क्या दोषापत्ति समझते हैं? जिस के सुनने से हमें भी उन दोषों का बोध हो जाए।

उत्तरपक्ष—सुनिये मित्रवर! पहले मैं आपसे यह पूछता हूँ—क्या ईश्वर में कर्तृत्व गुण नित्य है वा अनित्य? यदि आप उक्त गुण नित्य मानेंगे तब तो सृष्टि और प्रलय इन दो कार्यों का कर्ता परमात्मा कदापि सिद्ध न होगा क्योंकि प्रलय काल में आप के मानने के अनुसार परमात्मा को निष्क्रिय होकर बैठना पड़ेगा। तब उस का कर्तृत्व स्वतः ही नष्ट हो जायगा। यदि उस काल में भी आप कर्तृत्व गुण का सद्भाव रखेंगे तब आप को प्रलय काल नहीं मानना पड़ेगा। यदि आप अनित्य गुण मानेंगे तब तो कर्तृत्व भाव का ही अभाव हो जायगा। क्योंकि अनित्य गुण गुणी के साथ तदात्म सम्बन्ध वाला नहीं माना जाता। फिर इस विषय में यह भी शंका की जा सकती है कि यदि परमात्मा सर्व व्यापक है तब वह अक्रिय माना जायगा, जैसे—आकाश। यदि सर्वव्यापक भी क्रियायुक्त माना जायगा तब यह शंका भी उपस्थित होती है कि क्या वह क्रिया

एक देशमात्र होती है ? या सर्व देशमात्र ? यदि प्रथम पक्ष स्वीकार किया जायगा तब सर्व व्यापकता नष्ट होती है। क्योंकि जब परमात्मा सर्व व्यापक है तब क्रिया देश मात्र किस न्याय से मानी जाय ? यदि द्वितीय पक्ष स्वीकार किया जायगा तब यह दोष उत्पन्न होता है कि सबत्र क्रिया होने से फल एक-व्यक्ति को मिलना था किन्तु मिल गया सब को। समान क्रिया होने से । जैसे कल्पना करो प्यास तो एक व्यक्ति को लगी है किन्तु मेघ सर्वत्र बरस गया जिस ने स्थल को भी जलमय बना दिया । अतः कर्तृत्व गुण परमात्मा में मानना युक्तियुक्त नहीं है ।

पूर्वपक्ष — उसने सृष्टि की रचना दयावश होकर ही की है। इसलिये कोई दोषापत्ति नहीं आ सकती ।

उत्तरपक्ष — प्रियवर ! क्या आप ईश्वर को सृष्टिकर्ता उपादान कारण रूप से मानते हैं ? वा निमित्त कारण से ? यदि उपादान कारण रूप से मानते हैं तब तो आपके मत से दयारूप गुण स्वतः ही नष्ट हो जाता है । क्योंकि जब एक ब्रह्म ही अनेक रूप बन गया तब आप ही विचार करें कि उस ने दया किस पर की ? अपितु उसने अपना सत्यानाश आप ही कर लिया । क्योंकि वही ब्रह्म सर्वज्ञ वही असर्वज्ञ वही पंडित वही मूर्ख वही सदाचारी वही कदाचारी वही उपदेशक वही श्रोता वही कामी वही भोगी वही ब्राह्मण वही चांडाल वही आर्य वही अनार्य वही सत्यवक्ता, वही असत्यवक्ता—इत्यादि यावन्मात्र सांसारिक शुभाशुभ पदार्थ हैं वे सब ब्रह्म ही ब्रह्म हुए । जब इस प्रकार की गति

ब्रह्म की हो गई तव आप ही विचार करें क्या यह ब्रह्म की दया मानी जायगी ? कदापि नहीं।

यदि आप यह कहेंगे कि यह सब क्रियाएँ माया ने की हैं ? तो हम आप से पूछते हैं कि माया ब्रह्म से भिन्न है वा अभिन्न? यदि भिन्न मानोगे तव तो जगत् का उपादान कारण रूप ब्रह्म सिद्ध नहीं हो सकेगा क्योंकि जगत् में ब्रह्म और माया ये दो पदार्थ सिद्ध हो गए। यदि अभिन्न मानोगे तव तो ब्रह्म माया युक्त सिद्ध हो गया। जब वह मायायुक्त सिद्ध हुआ तव फिर उसको सर्वज्ञ और सर्वदर्शी मानना एक अपने आग्रह ही की वात है।

इस विषय में यह भी शंका उत्पन्न होती है कि माया सत् है वा असत्? यदि प्रथम पक्ष ग्रहण किया जाय तव तो वेदान्त मत का सर्वस्व ही नष्ट हो जाता है। यदि असत् पक्ष ग्रहण किया जाय तव यह प्रपंच क्यों? और फिर यह प्रपंच मिथ्या भी नहीं है। यदि ऐसा कहा जाय कि जिस प्रकार मृग तृष्णा का जल मिथ्या होता है वा रज्जु में सर्प की वुद्धि मिथ्या होती है, अथवा रात्रि समय ठूठ में चोर वुद्धि मिथ्या होती है, ठीक उसी प्रकार जगत् भी मिथ्या है। सो यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि मृग की आत्मा में जव जल का सत्ज्ञान स्थित था तव ही उसको नदी में भ्रम उत्पन्न हुआ ? यदि उस को जल का सत्यज्ञान न होता तो फिर उस को भ्राति किस प्रकार हो सकती थी। इसी प्रकार जव मन्ष सर्प का ज्ञान हृदय में हो तव ही रज्जु में सर्प की भ्राति हो सकती है और इसी प्रकार जव चोर का ज्ञान होता है तव

ही ठूंठ में चोर की भ्रांति हो सकती है। जब ये पदार्थ सत्य रूप हैं तब इन को मिथ्या कैसे कहते हैं? इसलिये मायारूप संसार को मिथ्यारूप मानना युक्तियुक्त नहीं है। अतः उक्त कथन से परमात्मा उपादान रूप कर्त्ता तो किसी प्रकार से भी सिद्ध नहीं हो सकता।

यदि ऐसा कहा जाय कि यह सब ब्रह्म की माया है। सो यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि इस विषय में यह शंका उत्पन्न होती है कि क्या ब्रह्म में इच्छा है? यदि है तो हम कहते हैं इच्छा वाला ब्रह्म स्वरूप नहीं हो सकता। फिर इच्छा कर्म और मन का धर्म है। सो जब इच्छावाला ब्रह्म माना गया तब इच्छा के होने से ब्रह्म की ब्रह्मता ही जाती रहेगी। साथ में इस बात का भी विचार कर लेना चाहिए। इच्छा अप्राप्त वस्तु की ही होती है सो वह कौनसा पदार्थ है जो ब्रह्म को प्राप्त नहीं हुआ।

यदि आप यह कहेंगे कि उसने केवल जनता को अपनी लीला दिखलाई है तो हम कहते हैं लीला वह दिखलाता है जो जनता से पृथक् होता है। तब आपके कथनानुसार ब्रह्म और जनता दो होगए? तथा लीला वह दिखलाता है जो अपनी प्रशंसा की इच्छा करने वाला या लालची हो। यदि उक्त दोनों बात ब्रह्म में मानी जायँगी? तब आप ही निष्पक्षता से विचार कर सकते हैं कि उक्त बातों के होने से ब्रह्म की ब्रह्मता रह सकती है? कदापि नहीं। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि उपादान कर्त्ता जो ईश्वर वादियों ने स्वीकार किया था वह किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता।

यदि ईश्वर को निमित्त कर्ता माना जाय तब भी वह सिद्ध नहीं होता। कारण कि जब जीव और प्रकृति दोनों अनादि हैं तो भला फिर कर्ता किसका ? यदि ऐसा कहोगे कि जिस प्रकार कुलाल घट का कर्ता होता है—यद्यपि मिट्टी कुलाल से प्रथम ही विद्यमान थी तथापि घटाकार हो जाने से फिर घट का कर्ता कुलाल ही कहा जाता है ठीक इसी प्रकार सूक्ष्म जगत् को स्थूल रूप में लाना, जीवों को कर्मों का फल देना और उन जीवों को वेद द्वारा सत्योपदेश देना, यह ईश्वर का ही व्यापार है। यदि वह इस प्रकार से क्रियाएँ न करे तो फिर उसे मानने की आवश्यकता ही क्या है ? तथा जब जगत् प्रलय रूप में होता है तब तो उस समय सर्व जीवात्मा सूक्ष्मावस्था में वा सुषुप्ति दशा में होते हैं। उन जीवों को जागृतावस्था में लाना—यही उस परम दयालु की परम दयालुता है ?। जिस प्रकार डाक्टर लोग आँखों पर आए हुए मोतियों के पानी को उतार फिर उस अंध प्राणी को संसार के दर्शन कराते हैं ठीक उसी प्रकार परमात्मा भी प्रलय में पड़े हुए जीवों को उठा कर फिर विचित्रमय जगत् के दर्शन कराता है, वश यही उस की दया है ? इसलिए आपका उक्त कथन भी युक्ति शून्य है क्योंकि जब प्रलय काल में जीव आप के कथनानुसार सुषुप्ति दशा में शान्तिपूर्वक थे तब आपके माने हुए ईश्वर ने उन बेचारों को नाना प्रकार के कष्टों में डाल दिया, गर्भावास में उनको नाना प्रकार के कष्ट भोगने के लिये स्थापन कर दिया, फिर उन जीवों को हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, क्रीड़ा और परिग्रह के जाल में ईश्वर की दया ने डाल

दिया उसको सर्व प्रकार के कुकृत्यों में लगा दिया तो यही उस परमदयालु परमात्मा की दया है ! यदि ऐसा कहोगे कि प्रलय काल में उन जीवों को सुख भी क्या था ? तो हम कहते हैं उनको दुःख भी क्या था ? जब आपके कथनानुसार उस दशा में सुख या दुःख कुछ भी न था तो फिर उन बेचारे जीवों को परमात्मा की दया ने एक दुःखमय समुद्र में डाल दिया । वाह ! उस परमात्मा ने क्या ही अच्छी दया की है ! और जो डाक्टर का दृष्टान्त दिया गया है वह भी विषम दृष्टान्त है जो इस विषय में संगत नहीं हो सकता । कारण कि डाक्टर को यह ज्ञान निर्भ्रान्त नहीं है कि यह अमुक व्यक्ति आँखों के प्रकाश होने पर अमुक पाप अवश्य करेगा । किन्तु परमात्मा को तो आपने सर्वज्ञ माना है, वह तो यह भली भाँति जानता है कि अमुक जीव अमुक पाप कर्म करेगा तो उसे रोकना चाहिए ।

अब यह प्रश्न भी हो सकता है कि यदि जान कर नहीं रोकता तब तो कुतूहली और दयाहीन सिद्ध होगा । जो पहले कर्म कराए या करते हुए को न रोके किन्तु जब जीव कर चुका तब दण्ड देने को उद्यत होजाए तो भला इस प्रकार से क्रिया करने वाले को कौन बुद्धिमान् परमात्मा मान सकता है ? अर्थात् कोई भी नहीं । यदि ऐसे माना जाए कि वह जानता ही नहीं तो फिर उसकी सर्वज्ञता नष्ट हो गई । यदि ऐसा कहा जाए कि परमात्मा जानता तो है किन्तु यदि वह किसी जीव को रोकेगा तब उस जीव की स्वतन्त्रता जाती रहेगी ! क्योंकि कर्म करने में जीव स्वतन्त्र है और फल भोगने

में परतन्त्र । सो यह युक्ति भी कार्य साधक नहीं है क्योंकि स्वतंत्रता तव जा सकती है जव उस की मूल की शक्ति छीन ली जाए किन्तु यह तो उसकी दया है जो अज्ञानवश जीव कर्म करने लगा था किन्तु परमात्मा की शक्ति ने उसे रोक दिया। जैसे पिता के सामने वालक अज्ञानवश कूप में कूदना चाहता है वा अग्नि में हाथ डालना चाहता है तथा साँप आदि हिंसक जन्तुओं को पकड़ना चाहता है तो क्या आपके मानने के अनुसार पिता के सामने वालक उक्त क्रियाएँ कर लेवे और पीछे पिता उस वालक का प्रतिकार करे। इस प्रकार की वुद्धि रखने वाले को पिता मानना आग्रह नहीं तो और क्या है ? इसी प्रकार जव परमात्मा के सामने सव कुकृत्य हो रहे हैं और परमात्मा उन्हें देख रहा है फिर सर्व शक्तिमान् परमदयालु कहाता हुआ उन जीवों को उन कुकृत्यों के करने से रोकता नहीं है तो फिर उस परमात्मा से तो वर्त्तमान समय के राज्यशासन कर्मचारी ही अच्छे हैं, जो कुकर्म होने के समाचार सुनते ही रक्षा करने में कटिवद्ध हो जाते हैं। जैसे राज्यशासन के कर्मचारियों को पता लग गया कि अमुक स्थान पर अमुक समय पर अमुक कुकर्म होने वाला है तो फिर वे वहुत शीघ्र उसकी रक्षा में कटिवद्ध हो जाते हैं वा रक्षा के उपायों का अन्वेपण करते हैं । किन्तु आप का माना हुआ सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमात्मा इतना काम भी नहीं कर सकता । इस से स्वत ही सिद्ध है कि उसमें कर्तृत्व गुण है ही नहीं, किन्तु लोगों ने ही उसमें असत् गुण की कल्पना कर रखी है।

इस स्थान पर यह भी शंका हो सकती है कि जब प्रलय काल आता है तब यह स्थूल सृष्टि परमात्मा में लीन हो जाती है या सूक्ष्मावस्था में हो जाती है? यदि प्रथम पक्ष ग्रहण करोगे? तब तो परमात्मा जड़ मिश्रित सिद्ध हो जायगा? क्योंकि जब उसमें जड़ प्रकृति समा गई तब वह भी जड़ता वाला हो गया तथा फिर उसका सर्व व्यापक गुण भी नष्ट हो गया क्योंकि जिसमें वह व्यापक था जब वही पदार्थ न रहा तो भला फिर व्यापक किस में? यदि द्वितीय पक्ष स्वीकार किया जाए? तब यह शंका उत्पन्न होती है कि सूक्ष्म जगत् ठहरा कहाँ पर? क्योंकि उस काल में तुमने आकाश का भी अभाव मान लिया है फिर तुमने सूक्ष्म से स्थूल जगत् का ईश्वर द्वारा होना मान लिया। सो यह कथन भी युक्ति युक्त नहीं है क्योंकि वह सूक्ष्म जगत् स्थूल रूप में किस प्रकार से आया? इस का तुम्हारे पास कोई भी न्याय युक्त प्रमाण नहीं है क्योंकि अनादि नियम कभी भी परिवर्तन नहीं किया जा सकता। जैसे पुत्रोत्पत्ति माता पिता द्वारा ही होती है तो फिर परमात्मा ने सूक्ष्म जगत् स्थूल रूप में किस प्रकार से किया? यदि ऐसा कहोगे कि आदि सृष्टि बिना मैथुन से होती है तो फिर इस में य शंकायें उत्पन्न होती हैं कि जब परमात्मा ने युवकों की आदि सृष्टि बिना मैथुन से उत्पन्न कर दी तो फिर अब क्यों वह बनाए घड़े घड़ाए युवक आकाश मंडल से नहीं भेज देता? क्योंकि जब दयालु है तो फिर शक्ति होते हुए गर्भावास के दुःख भोगना गर्भपात हो जाना लाखों माताओं की इस

कारण से मृत्यु होजाना, वालकपन के रोगादि के दु:खों का अनुभव करना--इत्यादि दु:खों का अनुभव करना ये सब परमात्मा की दया के ही फल हैं ? इसी लिये हमने पहले कहा था कि एक कर्तृत्व गुण मान लेने पर परमात्मा के अन्य गुण भी फिर ठहर नहीं सकते अतः किसी युक्ति से भी परमात्मा सृष्टि कर्ता सिद्ध नहीं हो सकता।

यदि कहोगे कि वेद ने ईश्वर को कर्ता सिद्ध किया है इसलिये ईश्वर कर्ता मानना ही चाहिए। तो इस विषय में हम पूछते हैं कि वेद किस ने वनाए ? यदि कहोगे ईश्वर ने ? तव तो यह अप्रामाणिक वात है। क्योंकि वेद शब्दात्मिक रूप हैं और फिर शब्द मुख से निकलता है सो जव परमात्मा का शरीर ही नहीं तो वेद किस के द्वारा वनाए गए सिद्ध होंगे ? यदि कहोगे कि मन्त्ररचना ऋषियों ने की है और ज्ञान परमात्मा का है इसलिये वेदों को ईश्वरोक्त मानने पर कोई दोषापत्ति नहीं आसकती। सो यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि आप लोग जीव को सर्वज्ञ तो मानते नहीं हो सो जव ऋषियों को ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान है ही नहीं तो भला फिर उनको ईश्वरीय ज्ञान का उपदेश किस प्रकार माना जा सकता है ? तथा यदि वेद ईश्वरोक्त ही मान लिये जायँ तो फिर अन्योन्य आश्रय दोष की भी प्राप्ति हो सकेगी। अत: यह कथन भी असमंजस ही है। किसी अध्यक्ष के सामने जिस प्रकार किसी ने अपना वृत्तान्त सुनाया और फिर उसने कहा कि मैं सत्य कहता हूं। तव अध्यक्ष ने प्रश्न किया कि तुम्हारी सत्यता का साक्षी कौन है ? तव उसने कहा कि मेरी

पुनर्विवाह की धर्मपत्नी। जैसे यह कथन उपहासास्पद है इसी प्रकार यह भी है। वेद कहता है—जगत् कर्ता केवल एक ही ईश्वर है और ईश्वर कहता है कि वेद मैंने ही बनाए हैं। अब विचार शील पुरुष स्वयं इस विषय पर विचार करें कि इस में सत्यता कहाँ तक है?

इस बात पर भी अवश्य विचार करना चाहिये कि शरीरादि सामग्री प्राप्त किये बिना वेदों की रचना किस प्रकार से की गई तथा जब यह भी मानते हो कि सृष्टि की रचना के साथ ही वेद रचना हुई तब क्या उन बने बनाये और पढ़े पढ़ाये नवयुवकों की जो बिना माता पिता के संयोग से ईश्वर की अपार दया से स्वयमेव उत्पन्न हुए थे मूल भाषा वैदिक संस्कृत थी? यदि थी ऐसा कहोगे तब तो यह शंका उत्पन्न होती है कि बालक मातृभाषा माता के कारण से ही बोला करते हैं सो उन बेचारों के तो माता पिता दोनों ही नहीं थे तो वे भाषा कहाँ से सीखे? यदि कहोगे जैसे उनकी उत्पत्ति ईश्वर की दया से हुई उसी प्रकार वे वैदिक संस्कृत भी स्वतः ही जान गये। इस से यह स्वतः ही सिद्ध हो गया कि जैसे उत्पत्ति के विषय में उनकी असत्य कल्पना है इसी प्रकार भाषा के विषय में भी असत्य कल्पना ही है। तथा इसमें यह भी शंका उत्पन्न हो सकती है कि क्या आर्यावर्त के ही नवयुवक वैदिक संस्कृत बोलते थे या अन्य देशों के भी? यदि कहोगे आर्यावर्त के ही नवयुवक वैदिक संस्कृत बोलते थे तो यह शंका उत्पन्न होती है कि यह क्यों? अन्य देश वासियों ने क्या अपराध किया था? यदि कहोगे सर्व

देशवासी बोलते थे? तब यह शंका उत्पन्न होती है कि यह कथन असभव प्रतीत होता है उन देशों में वैदिक संस्कृत तो दूर रही किन्तु लोग संस्कृत का नाम भी नहीं जानते। संस्कृत शब्द का यह अर्थ होता है कि संमार्जन किया हुआ। तब यह शंका उत्पन्न होती है कि उन युवकों ने किस भाषा में से वैदिक सस्कृत समार्जन किया था? क्योंकि वे तो वर्षा ऋतु में होने वाले मेंढकों की भॉति उत्पन्न होते हीं बोलने लग गए थे? अत. ये सब कथन स्वकपोल कल्पित होने से असत्य है।

पूर्वपक्ष—यदि ईश्वर सृष्टि न रचे तो जीवों के शुभाशुभ कर्मों का फल उन के भोगने में किस प्रकार से आ सकता है?

उत्तरपक्ष—यदि ईश्वर जीवों के कर्मों का फल न भुक्तावे तो ईश्वर की क्या हानि है? क्योंकि आप के मतानुसार जीव स्वयं तो कर्मों के फल भोग सकते ही नहीं? और फिर ईश्वर सृष्टि की रचना ही न करे तब तो बहुत ही अच्छा हो जाय क्योंकि न तो जीव पूर्व कर्मों के फल भोगें और न नवीन शुभाशुभ कर्म आगे को करें, वे सदैव प्रलय दशा में ही आनन्द का अनुभव करते रहें। क्योंकि उपनिषदों में लिखा है कि सुषुप्ति में आत्मा ब्रह्म में लय हो के परमानन्द को भोगता है। जब सुषुप्ति में यह दशा है तो फिर प्रलय रूप महा सुषुप्ति में तो परमानन्द का कहना ही क्या है? तथा इस से तो यह भी सिद्ध होता है कि जब ईश्वर सृष्टि की रचना करता है? तब जीवों के परमानन्द का नाश करता है। जब प्रश्न यह उपस्थित होता है तो फिर ईश्वर सृष्टि रचता ही क्यों है?

पूर्वपक्ष—यदि ईश्वर सृष्टि रच कर जीवों को कर्मों का फल न भुगाता तब तो ईश्वर का न्यायशीलता का गुण रहता ही नहीं। क्योंकि जगत् में न्यायाधीश होकर यदि न्यायपूर्वक पापियों को शिक्षित नहीं करता है तो न्यायाधीश किस बात का है?

उत्तरपक्ष—वेदमत में तो एक ब्रह्म के बिना अन्य कोई जीवात्मा है ही नहीं? तो क्या ब्रह्म आप ही न्यायाधीश बनता है? और फिर आप ही अधर्म करके दण्ड का पात्र बन कर दण्ड देता है? यह तो ऐसे हुआ जैसे किसी ने आप ही कर्म करे और फिर उसके फल भोगने के वास्ते अपने ही हाथ से अपने नाक कान हाथ पैर मस्तकादि छेदन कर डाले। इस से तो ब्रह्म प्रथम पाप न करता तो अच्छा था? तथा ईश्वर अन्य जीवों को नवीन पाप न करने देता तब तो सर्वदा प्रलय दशा ही रहती। न तो सृष्टि रचनी पड़ती न सृष्टि का संहार करना पड़ता और न फिर जीवों को कर्मों का फल देना पड़ता। परमात्मा सदा परमानन्द भोगता रहता। ब्रह्म ने यह सृष्टि क्या रची आप ही अपने पैर में कुल्हाड़ा मारा। ऐसे अज्ञानी को कौन बुद्धिमान् परमेश्वर मान सकता है। अतः सृष्टि कर्ता ब्रह्म वा परमात्मा किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकता? तथा वो ही इस में कर्तृत्व वा अकर्तृत्व दोनों गुण युगपत् ठहर ही सकते हैं। यदि कहोगे—ठहर सकते हैं क्योंकि उस का स्वभाव होने से? तो हम पूछते हैं कि यदि दोनों विरुद्ध स्वभाव ठहर सकते हैं तो आप बतलावें कि वे दोनों स्वभाव नित्य हैं या अनित्य? ईश्वर से भिन्न हैं वा

अभिन्न? रूपी है वा अरूपी? जड़ है वा चेतन? यदि दोनों स्वभाव नित्य हैं तब तो ये दोनों स्वभाव युगपत् सदा प्रवृत्त होंगे? तब तो ईश्वर सदा सृष्टि रचेगा और सदा ही प्रलय करेगा। इस से तो न सृष्टि होगी न प्रलय होगा। जैसे एक पुरुष दीपक जलाता है और फिर दूसरा पुरुष जलाने के समय में ही उसे बुझा देता है तब तो दीपक न जलेगा और नांही बुझेगा। इसी प्रकार ईश्वर का सृष्टि रचने का स्वभाव तो सृष्टि रचेगा ही और फिर ईश्वर का प्रलय करने का स्वभाव उसी समय में ही प्रलय कर देगा? तब तो सृष्टि और प्रलय ये दोनों ही युगपत् होते रहेंगे? इसलिये प्रथम विकल्प मिथ्या है। यदि दोनों स्वभाव अनित्य हैं तो क्या ब्रह्म ईश्वर से भिन्न है वा अभिन्न है? यदि भिन्न है तो ईश्वर के ये दोनों स्वभाव नहीं हैं, ईश्वर से भिन्न होने से। यदि अनित्य और अभिन्न है तब तो जैसे स्वभाव उत्पत्ति विनाश धर्मवाले हैं उसी प्रकार फिर ईश्वर भी उत्पत्ति विनाश धर्म वाला मानना चाहिए, स्वभावों से अभिन्न होने से। पर ऐसा मानते नहीं हैं। इस वास्ते यह पक्ष भी मिथ्या है। यदि स्वभाव रूपी है तब तो ईश्वर भी रूपी होना चाहिए क्योंकि स्वभाव वस्तु से भिन्न नहीं होता है। तब तो ईश्वर को रूपी होने से जड़ता की आपत्ति होगी? इस वास्ते यह पक्ष भी मिथ्या है। यदि दोनों स्वभाव अरूपी हैं तब तो किसी वस्तु के भी कर्ता नहीं हो सकते हैं अरूपित्व होने से आकाशवत्। इसलिए यह पक्ष मानना भी मिथ्या है। किन्तु जड़पक्ष रूपी पक्ष की तरह खंडित हो जाता है। इसी प्रकार चेतन पक्ष में

भी मिथ्यामिथ्य और भेदाभेद अवतरण तथा खंडन स्वयं जान लेना चाहिए। स्वभावपक्ष मानना भी केवल अज्ञान विजृम्भित ही है। इसलिये ईश्वर कर्त्ता वा फलप्रदाता किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकता।

यदि इस विषय का पूर्ण विवरण देखना हो तो जैनन्याय ग्रंथों का अवलोकन करना चाहिए। इस स्थान पर तो केवल उक्त विषय का दिग्दर्शन ही कराया गया है।

अतः भाव सत्य की रक्षा के लिये पहले भाव असत्य का ज्ञान भली भांति कर लेना चाहिए फिर भाव असत्य का परित्याग करके भाव सत्य धारण करना चाहिए। क्योंकि आत्मा भाव सत्य के ही धारण करने से निर्वाण पद की प्राप्ति कर सकता है अन्यथा नहीं। जिस प्रकार ईश्वर विषय वर्णन किया गया है ठीक उसी प्रकार होनहार (भवितव्यता) वादादि विषय में भी जानना चाहिए, जिस से भाव सत्य की पूर्णतया पालना की जा सके।

प्राप्त करते तथा जिस प्रकार दग्ध बीज सर्व प्रकार के प्रयत्न करने पर भी अंकुर नहीं दे सकता उसी प्रकार सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति में कर्मों के बिना पुरुषार्थ सफल नहीं होता। इसलिये कार्य सिद्धि के वास्ते दोनों अत्यन्त आवश्यक हैं। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि कर्म से पुरुषार्थ बलवान् है जो कर्म को उत्पन्न भी कर सकता है और क्षय भी कर सकता है। हाँ यह बात अवश्य माननीय है कि जब कर्मों का आत्मा के साथ निकाचित बंधन (बिना उपभोग किए नाश न होने वाला) पड़ जाता है तब वे कर्म आत्मा को अवश्यमेव भोगने पड़ते हैं। उस समय आत्मा पराधीन अवश्य होता है किन्तु जब वे कर्म फल दे चुके तब आत्मा उन कर्मों की अपेक्षा से स्वतन्त्र हो जाता है। इसीलिये सूत्र में लिखा है कि—

कम्मसंगे हि संमूढा दुक्खिया बहुवेयणा।
अमाणुसासु जोणीसु विणिहम्मंति पाणिणो॥

अर्थात् कर्मों के संग से जीव मूढ़ हो रहा है जो दुःखित हुआ बहुत वेदना पा रहा है। मनुष्य योनि के बिना यह प्राणी नाना प्रकार की योनियों में अपने विकास के स्थान पर हनन ही होता रहा। अतः इस गाथा में उदय हुए कर्मों की प्रधानता कथन की गई है। वास्तव में पुरुषार्थ ही बलवान् है जो कर्मों के बंधन को क्षय भी कर सकता है। यदि ऐसा कहा जाय कि क्या बिना कर्मों से धर्म प्राप्ति हो सकती है? इस प्रश्न के समाधान में कहा जाता है कि धर्म प्राप्ति तो

क्षायिक वा क्षयोपशम भाव से होती है नतु कर्मोदय से। हां, शुभगत्यादि की प्राप्ति शुभ कर्मों से होती है अशुभ गत्यादि की प्राप्ति अशुभ कर्मोदय से हो जाती है। किन्तु धर्म प्राप्ति तो प्रायः क्षायिकोपशम भाव पर ही निर्भर है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को योग्य है कि वह आत्मा को पण्डित वाल वीर्य की ओर ही लगावे जिस से आत्मा उक्त वीर्य से कर्म क्षय करने में समर्थ होजावे।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वीर्य कितने प्रकार से प्रतिपादन किया गया है ? इस प्रश्न के समाधान में कहा जाता है कि वीर्य आत्मा का निज गुण है और वह एक रसमय है किन्तु कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होजाने के कारण से वीर्य तीन प्रकार से वर्णन किया गया है। जैसे कि—१ पण्डित वीर्य २ वाल वीर्य और ३ वाल पण्डित वीर्य। पण्डित वीर्य का यह मन्तव्य है कि सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञान द्वारा जो क्रियाएँ की जाती हैं उन क्रियाओं के करते समय पण्डित वीर्य होता है, जो कर्म प्रकृतियों के क्षय करने में अपना सामर्थ्य रखता है। क्योंकि पंडित वीर्य की क्रिया सम्यग्ज्ञानपूर्वक होने से कर्मों के क्षय करने में सामर्थ्य रखती है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वे सम्यग् क्रियाएँ कौन कौन सी हैं जिनके करने से कर्म क्षय किये जा सकते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि स्वाध्याय और ध्यान—ये दोनों ही क्रियाएँ कर्मों के क्षय करने में समर्थ हैं। स्वाध्याय पाच प्रकार से वर्णन किया गया है। जैसे कि १ वाचना–सत्यशास्त्रों का पढ़ाना और पढ़ना। २ पूछना–जिस

विषय की शंका हो उस विषय के निर्णयार्थ प्रश्नोत्तर करने। ३ परिवर्तना-जो पूर्व पाठ किया जा चुका हो उसकी अनुवृत्ति करना। ४ अनुप्रेक्षा-निज अनुभव द्वारा पदार्थों का ज्ञान करना। ५ धर्मकथा-धर्मोपदेश देना। जिस कथन से भवोप प्राणियों को धर्म तत्व का बोध होजाए उसे ही धर्म कथा कहते हैं। इस प्रकार करने से आत्मा विकास भाव प्राप्त कर लेता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि अनुप्रेक्षा किसे कहते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि अनुप्रेक्षा बारह प्रकार से वर्णन की गई है। जैसे कि—

१ अनित्यानुप्रेक्षा—इस बात का अनुभव करते रहना कि यावन्मात्र पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं वे सब अनित्य हैं वे एक ही आकृति में नहीं रह सकतीं। जैसे मनुष्य ही की पर्याय को लीजिये। बाल युवा और वृद्ध अवस्थाओं का आना फिर रोग शोक वियोगादि के कारण से शरीर की पर्यायों का परिवर्तन हो जाना। इसी प्रकार धनादि यावन्मात्र पदार्थ हैं वे सब अनित्य हैं। इसी प्रकार की अनुप्रेक्षा से पुद्गल द्रव्य से ममत्व भाव का परित्याग करना-यही अनित्यानुप्रेक्षा है।

२ अशरणानुप्रेक्षा—इस प्रकार की भावना उत्पन्न करना कि संसार में इस प्राणी का कोई रक्षक नहीं है। जिस प्राणी को निज कर्मानुसार जो सुख वा दुःख अनुभव करना पड़ता है उस को वही प्राणी अनुभव कर सकता है अन्य प्राणी नहीं। तथा स्वधर्म ही जीव का रक्षक है नतु अन्य पदार्थ। मृत्यु समय सिवाय धर्म के अन्य कोई भी सहायक नहीं बनता। अतः जो

प्राणी धर्म छोड़ कर किसी अन्य के शरण की इच्छा रखता है, वह निज बोध से अपरिचित होने के कारण दु खों का ही अनुभव करने वाला होता है।

३ संसारानुप्रेक्षा—अनादि काल से जीव संसार चक्र में परिभ्रमण करता चला आरहा है। जिस प्रकार एक अटवी में रहने वाला जीव अनाथ होता है ठीक उसी प्रकार यह जीव भी ससार में अनाथ हो रहा है और जन्म मरण के ससार चक्र में नाना प्रकार के दु खों का अनुभव कर रहा है। अनादि संसार चक्र है अनादि काल से ही जीव इसमें घूम रहा है।

४ एकत्वभावनानुप्रेक्षा—वास्तव में जीव अकेला ही है। जो संसार में वाजिशाला, हस्तिशाला, वृषभशाला, गोशाला, आदि की ममता करता था तथा यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है, ये मेरे सम्बन्धी हैं, ये मेरे धनादि पदार्थ हैं—इस तरह यावन्मात्र पदार्थों का ममत्व भाव करता था जब मृत्यु का समय आगया तब सब वस्तुओं को छोड़ कर प्राणी अकेला ही परलोक यात्रा के लिये प्रयाण कर गया। इस से स्वत: ही सिद्ध हो जाता है वास्तव में जीव अकेला ही है। इसलिए इस भावना द्वारा ममत्व भाव दूर करना चाहिए।

५ अन्यत्वानुप्रेक्षा--इस बात की अनुप्रेक्षा करते रहना कि शरीर अन्य है और जीव अन्य यदि शरीर पर भयंकर रोगादि का आक्रमण हो जाए तब व्याकुल चित्त को इस अनुप्रेक्षा द्वारा शान्त करना चाहिए और साथ ही इस बात का भी विचार करते रहना चाहिए कि यावन्मात्र सम्बन्धियों

का सम्बन्ध मिला हुआ है यह सब उसी प्रकार है जिस प्रकार रात्रि निवास के लिये एक वृक्ष पर पक्षी एकत्रित हो जाते हैं। वास्तव में न मैं उनका हूं न वे मेरे हैं।

६ अशुच्यनुप्रेक्षा—यह शरीर मलमूत्र का कोष है इस का कोई भी ऐसा अवयव नहीं है जो सदैव पवित्र रह सकता है। बाह्याकृति देख कर ही इस पर मोहित न होना चाहिए। परन्तु इस के भीतर की दशा देखनी चाहिए। जिस प्रकार यह शरीर मल मूत्र का कोष है उसी प्रकार रोगों का भी आलय है। जब तक कोई रोग प्रकट नहीं हुआ तब तक यह अच्छा और सुन्दर लगता है किन्तु रोग के प्रकट हो जाने पर इसकी बाह्याकृति भी बिगड़ जाती है इसलिये इस शरीर पर ममत्व भाव न करना चाहिए। तथा इसको दुर्गन्धमय जान कर आत्मा का सम्यग् दर्शन सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र द्वारा अलंकृत करना चाहिए जिस से निर्वाण पद की प्राप्ति हो सके।

७ आस्रवानुप्रेक्षा—जिस प्रकार पट का मूल कारण तन्तु घट का मृत्तिका और वृक्षोत्पत्ति का कारण उस का बीज है ठीक उसी प्रकार कर्म मूल मिथ्यात्व है। जिस प्रकार झरोखे से वायु आता है तड़ाग की प्रणाली से तालाब में जल आता है इसी प्रकार प्रमाद से कर्म आते हैं। जिस प्रकार चोर रात्रि में धन का हरण करते हैं ठीक उसी प्रकार क्रोध मान माया और लोभ आत्मा के धन का हरण कर लेते हैं। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय और योग के ही द्वारा आत्मा के प्रदेशों पर कर्मों का बन्ध हो जाता है।

अत: इन से निवृत्त होने के उपायों का अन्वेषण करना चाहिए।

८ संवरानुप्रेक्षा—जिन जिन मार्गों से कर्म आते थे, उन उन मार्गों के सम्यग् चारित्र द्वारा निरोध करने को संवरानुप्रेक्षा कहते हैं। जैसे कि एक के लिखे विना विन्दु शून्य होते हैं, सूर्य के विना नेत्र कुछ काम नहीं कर सकते, जल वा प्रकाश के विना कृषक कुछ काम नहीं कर सकते, इसी प्रकार सम्यक्त्व के विना विपुल तप भी कार्य साधक नहीं होता। वह धन किसी काम का नहीं जिस से सुख की प्राप्ति नहीं होती, वह सुख भी किसी काम का नहीं जिस के मिलने पर संतोष नहीं आता, वह संतोष भी प्रशंसनीय नहीं है जिस से व्रत धारण नहीं किये गए और वह व्रत भी श्रेष्ठ नहीं है जिसका मूल सम्यक्त्व नहीं है। इसलिये प्रत्येक व्रत का मूल सम्यक्त्व रत्न है। इसके धारण किये जाने के पश्चात् फिर सर्वव्रती वा देशव्रती चारित्र धारण करना चाहिए, जिस से कर्म आने के मार्गों का सर्वथा निरोध किया जा सके।

९ निर्जरानुप्रेक्षा—प्राचीन कर्मों की निर्जरा करनी चाहिए क्योंकि जब तक वे पूर्वकृत कर्म क्षय नहीं किये जा सकेंगे तब तक आत्मा कर्मों से सर्वथा विमुक्त नहीं हो सकता। किन्तु कर्म क्षय करने में सकाम निर्जरा ही सामर्थ्य रखती है नतु अकाम अर्थात् सम्यक्त्व पूर्वक क्रियाएँ ही कर्मक्षय कर सकती हैं नतु मिथ्यात्व पूर्वक। अतएव ज्ञानपूर्वक सांयमिक क्रियाओं द्वारा कर्मक्षय कर देना चाहिए, जिस से आत्मा निर्वाणपद की प्राप्ति कर सके।

१० लोकानुप्रेक्षा—यह जगत् धर्म अधर्म आकाश काल, पुद्गल और जीव—इन छः पदार्थों का समूह रूप है। इस के तीन विभाग हैं—अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। तीनों लोकों में प्राणी अपने किये हुए कर्मों के फलों को भोगते हैं। जिस प्रकार अधोलोक के अन्तिम भाग में सातवें नरक में जीव परम दुःखों को भोगते हैं ठीक उसी प्रकार जीव ऊर्ध्वलोक के अन्तिम भाग में अत्यन्त सुखों को भोगते हैं। तीन लोकों की आकृति की अनुप्रेक्षा करना और साथ ही जीवों की जिस प्रकार से लोक में गतागति होती है उसका अनुभव करना—इसी का नाम लोकानुप्रेक्षा है। और फिर इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि यह संसार न किसी ने बनाया है और न इसका कभी नाश होगा। यह अनादि अनन्त है यह सदा इसी प्रकार रहेगा।

११ बोधिदुर्लभभावना—जीव को इस अनादि संसार चक्र में भ्रमण करते हुए प्रत्येक वस्तु का संयोग सुखपूर्वक मिल सकता है किन्तु बोध का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है क्योंकि यदि अत्यन्त पुण्य के प्रभाव से जीव को मनुष्य जन्म की सामग्री की प्राप्ति हो भी जाय तो फिर बोध बीज का प्राप्त होना अत्यन्त ही क्षयोपशम भाव का कारण मानना चाहिए। सर्व पदार्थ सुलभतर हैं किन्तु बोध बीज ही आत्मा को अक्षय पद की प्राप्ति कराने में सहायक होता है।

१२ धर्मानुप्रेक्षा—यावन्मात्र शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक सुख हैं वे सब धर्म से ही उपलब्ध हो सकते हैं। क्योंकि धर्म एक कल्पवृक्ष की उपमा वाला है। परंच धर्म की

बुद्धिपूर्वक परीक्षा होनी चाहिए। वास्तव में सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र रूप ही धर्म आत्मा को आत्मिक सुख प्राप्त कराने वाला है। धर्म के आश्रित होकर ही जीवन व्यतीत करना चाहिए, जिस से अक्षय आनन्द की प्राप्ति हो सके। इस प्रकार १२ अनुप्रेक्षाओं द्वारा पण्डित को वीर्य के साथ कर्म क्षय करने चाहिएँ। यदि ऐसे कहा जाए कि ये तो ठीक समझा गया है कि इस प्रकार की अनुप्रेक्षा द्वारा कर्म क्षय किये जा सकते हैं किन्तु वह ध्यान कौन सा है जिस से कर्म क्षय किये जा सकते हैं? इस प्रश्न के समाधान में कहा जाता है कि मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावनाओं द्वारा पहले मन की शुद्धि कर लेनी चाहिए क्योंकि मन करण है जो कर्ता की क्रिया में सहायक बनता है। जिस प्रकार शीत, स्वच्छ, निर्मल, और मधुर जल प्यास को बुझाने में समर्थ होता है ठीक उसी प्रकार स्वच्छ और निर्मल मन भी समाधि क्रिया में सहायक बनता है। जिस प्रकार जल में लवण लीन हो जाता है उसी प्रकार स्वच्छ मन भी समाधि में लीन हो जाता है। कारण कि मन का निरोध करने से फिर सब पदार्थों का निरोध किया जा सकता है अर्थात् जिस ने मन को वश किया उस ने सब को वश कर लिया। मन की शुद्धि किये जाने पर फिर सब कलंक दूर हो जाते हैं क्योंकि जब मन राग और द्वेष में प्रवृत्त नहीं होगा तब फिर वह अपने स्वरूप में ही लीन हो जायगा। अत ध्यान वाले पुरुष को योग्य है कि वह सब से पहले मन पर विजय प्राप्त करे जिस से फिर उस के अन्त करण में समता भाव का संचार हो

जावे। आत्मा समता भाव द्वारा कर्मों का नाश कर सकता है समता भाव से ही आत्मिक तत्वों का भली प्रकार निर्णय कर सकता है समता भाव से ही निज स्वरूप में निमग्न हो सकता है। जिस प्रकार प्रचण्ड अग्नि हिमालय पर्वत पर होने वाले हिम (बर्फ) का कुछ भी नहीं विगाड़ सकता ठीक उसी प्रकार समता वाले व्यक्ति का नाना प्रकार से होने वाले उपसर्ग (कष्ट) भी कुछ नहीं विगाड़ सकते। अतः योगी पुरुष को योग्य है कि वह समता भाव का आश्रय ग्रहण करे जिस से ध्यान की दृढ़ता बढ़े। समता धारण करने वाले व्यक्ति का राग द्वेष और मोह आदि शत्रु पराभव नहीं कर सकते। जिस प्रकार रूप और रस का परस्पर सम्बन्ध है ठीक उसी प्रकार समता भाव और ध्यान का भी परस्पर सम्बन्ध है। समता भाव के आश्रित ध्यानावस्था और ध्यानावस्था के आश्रित समता भाव होता है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ध्यान कितने प्रकार से वर्णन किये गए हैं? इस प्रश्न का उत्तर यों है—मुख्यतया ध्यान के चार भेद वर्णन किये गए हैं। जैसे कि—१ आर्त्त ध्यान २ रौद्र ध्यान ३ धर्म ध्यान और ४ शुक्ल ध्यान।

१ आर्त्त ध्यान उसे कहते हैं जिस से चिन्ता की उत्पत्ति विशेष बढ़ जाय। क्योंकि जब प्रिय पदार्थों का वियोग और अप्रिय पदार्थों का संयोग होता है तब चिन्ता और शोक बढ़ जाते हैं।

२ रौद्र ध्यान उसे कहते हैं जिससे (अन्य) जीवों के लिए हानि के विचार उत्पन्न किये जावें तथा मन में सदा

यही विचार रहें कि कोई भी व्यक्ति मुझ से बढ़ न जाय तथा सब व्यक्ति मेरे ही अधीन रहें। इसलिए ये ध्यान त्याज्य हैं, क्योंकि इन ध्यानों के कारण से जीव संसार के जन्म मरणों की वृद्धि कर लेता है।

३ धर्म ध्यान उसे कहते हैं जिस से पदार्थों के स्वरूप का यथावत् विचार किया जाय और श्री भगवान् की आज्ञा का पालन किया जाय। इतना ही नहीं किन्तु अनित्यादि अनुप्रेक्षा की संसार से निवृत्ति की जाय तथा जिस प्रकार संसारबन्धन से मुक्ति (छुटकारा) हो सके, उस प्रकार की भावनाओं द्वारा आत्मा को निर्लेप किया जा सके।

४ शुक्ल ध्यान उसे कहते हैं जिसके द्वारा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—इन चारों घातक कर्मों से विमुक्त होकर केवल ज्ञान और केवल दर्शन की प्राप्ति की जा सके।

इन का सविस्तर स्वरूप जैनागम और जैनयोगशास्त्रादि से जानना चाहिए। यहाँ पर तो केवल दिग्दर्शन मात्र ही कथन किया गया है।

योगी आत्मा पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ और रूपातीत-इन चारों प्रकार के ध्यानों से आत्मा की विशुद्धि करे। किन्तु इस बात का भी हृदय में विचार कर लेना चाहिए कि ज्ञान और वैराग्य ये दोनों क्रियाएँ यदि स्थिर होंगी तब ही ध्यान में स्थिरता बढ़ेगी। यदि व्यक्ति ज्ञान और वैराग्य को छोड़ कर ध्यान की स्थिरता चाहता है तो वह सेना और शस्त्रादि छोड़ कर शत्रु पर विजय प्राप्त करना चाहता है तथा जिस

प्रकार धन से हीन व्यक्ति बड़े व्यापार करने की इच्छा रखता है वा विद्याहीन व्यक्ति विद्वन्मण्डली में विद्वत्शिरोमणि पद की इच्छा रखता है उसी प्रकार ज्ञान और वैराग्य से रहित व्यक्ति ध्यान की सिद्धि की इच्छा रखता है। अतः योगी आत्मा के मन में ज्ञान और वैराग्य अवश्य होने चाहिये, जिससे वह अपने कार्य की सिद्धि कर सके।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ध्यान किस स्थान पर करना चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि यद्यपि जिस स्थान पर स्त्री पशु पंडक (नपुसक) न रहते हों और जिस स्थान पर मनोवृत्ति का भली प्रकार से निरोध किया जा सके वास्तव में वही स्थान उत्तम है, तथापि सागर के समीप वन, पर्वतशिखर, नदीतट पुष्पवाटिका, कोट, वृक्षसमूह नदीसंगम द्वीप वृक्षमूल जीर्णोद्यान स्मशान गुहा भूमिगृह कदलीवन वा कदलीगृह उपवन इत्यादि जिन स्थानों में मनोवृत्ति भली प्रकार से निरोध की जा सके और मन की प्रसन्नता रह सके वही ध्यान करने के योग्य स्थान है।

अब यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि जब योग्य स्थानों की प्राप्ति होगई तो फिर किस किस आसन पर ध्यान लगाना चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि जिस आसन पर मनोवृत्ति स्थिर रह सके उसी आसन पर बैठ कर ध्यान लगाना चाहिए। यद्यपि समाधि के लिए पर्यंकासन अर्द्धपर्यंकासन पद्मासन वीरासन इत्यादि अनेक प्रकार के आसनों का वर्णन किया गया है तथापि जिस जिस आसन में सुख

पूर्वक उपविष्ट व्यक्ति अपने मन को निश्चल कर सकें, योगियों को वही सुन्दर आसन स्वीकार करना चाहिए । आसन की दृढ़ता धैर्य और वीर्य पर ही निर्भर है, अत धैर्य और शक्ति-पूर्वक आसन जमा कर बैठना चाहिए जिससे फिर ध्यान मुद्रा धारण कर सके । जैसे कि—

पर्यङ्कदेशमध्यस्थे प्रोत्ताने करकुड्मले ।
करोत्युत्फुल्लराजीवसन्निभे च्युतचापले ॥१॥

अर्थ—(पद्मासन बाँधकर) अपनी गोदी के बीच में नाभि के समीप दोनों करकमलों को खिले हुए कमलों के समान उत्तान करके चञ्चलारहित (स्थिर) रक्खे ॥१॥

नासाग्रदेशविन्यस्ते धत्ते नेत्रेऽतिनिश्चले ।
प्रसन्ने सौम्यतापन्ने निष्पन्दे मन्दतारके ॥२॥

अर्थ—जिन की पुतलियाँ (तारक) सौम्यता को लिए हुए स्पन्द रहित प्रसन्न तथा अतिनिश्चल हुए हैं, ऐसे दोनों नेत्रों को नासा के अग्रभाग में स्थिर रक्खे ॥२॥

भ्रूवल्लीविक्रियाहीनं सुश्लिष्टाधरपल्लवम् ।
सुप्तमत्स्यह्रदप्रायं विदध्यान्मुखपङ्कजम् ॥३॥

अर्थ—भौंहें बिल्कुल विकार शून्य हों, दोनों होंठ सुश्लिष्ट अर्थात् न तो खुले और न अति मिले हुए रहें, इस प्रकार सोई हुई मछलियों वाले शान्त सरोवर के समान मुख कमल को सुस्थिर रक्खे ॥३॥

इस प्रकार से ध्यानाकृति किये जाने के अनन्तर ही ध्यान आरम्भ करना चाहिए । अब प्रश्न यह उपस्थित होता

है कि ध्यान किस प्रकार से करना चाहिए ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि प्रथम प्राणायाम द्वारा मन की एकाग्रता कर लेनी चाहिए, जिससे शीघ्र ही आत्म स्वरूप में लीन हो सके। प्राणायाम तीन प्रकार से वर्णन किया गया है जैसे कि— पूरक कुंभक और रेचक। पूरक उसे कहते हैं जो द्वादश अंगुल प्रमाण बाहर से वायु खींच कर शरीर में पूर्ण करता है। जो इस पूरक पवन को स्थिर कर के नाभिकमल में घड़े को जैसे भरे उसी प्रकार रोके (थांभे) नाभि से अन्य जगह चलने न दे वह कुंभक प्राणायाम कहा जाता है और जो अपने कोष्ठक से पवन को अति यत्न से मंद मंद बाहर निकाले उसे पवनाभ्यास के शास्त्रों में विद्वानों ने रेचक कहा है। इस प्रकार के अभ्यास से जब मन की एकाग्रता हो जाय तब अपने अन्तःकरण से पुद्गल सम्बन्धी शब्द रूप गंध रस और स्पर्श से आत्मा को पृथक् कर लेना चाहिए। इतना ही नहीं किन्तु फिर कुशल मन द्वारा यह विचार करना चाहिए कि देखो यह कैसा आश्चर्य है कि मेरा आत्मा अनन्त शक्तिशाली होता हुआ भी कर्मों के वश से किस प्रकार की दीन दशा को प्राप्त हो रहा है और राग द्वेष के वशीभूत होकर नाना प्रकार के कष्टों को भोग रहा है। अतः अब मुझे योग्य है कि मैं सम्यग् दर्शन द्वारा निज आत्मदर्शी बनूं। क्योंकि ध्यानी पुरुष जब तक ध्येय पर आरूढ़ नहीं तब तक वह समाधि में भी लीन नहीं हो सकता।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ध्येय किसे कहते हैं ? इस प्रश्न के समाधान में कहा

करने योग्य होता है उसे ही ध्येय कहते हैं। यह ध्येय दो प्रकार से वर्णन किया गया है जैसे कि चेतन और जड़। चेतन द्रव्य में सभी चेतन ग्राह्य हैं और जड़ में धर्मास्ति काय, अधर्मास्ति काय, आकाशास्ति काय, काल द्रव्य और पुद्गल द्रव्य—इनको भी ध्येय बनाया जाता है।

सब से पहले आत्मदर्शी बनना चाहिए जिससे सर्व ज्ञान की प्राप्ति द्वारा लोकालोक को भली प्रकार देखा जासके। जैसे कि यह आत्मा अजर, अमर, अक्षय, अव्यय, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, ज्ञानात्मा से सर्व व्यापक, अनन्त शक्ति वाला और अनन्त गुणों का आकर है। इस प्रकार ध्यान से विचार करे कि मेरी तो उक्त शक्तियाँ शक्तिरूप हैं किन्तु सिद्ध परमात्मा की ये शक्तियाँ व्यक्तरूप हैं।

अणोरपि च यः सूक्ष्मो महानाकाशतोऽपि च।
जगद्वन्द्यः स सिद्धात्मा निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः ॥१॥

अर्थ—जो सिद्ध स्वरूप परमाणु से तो सूक्ष्म स्वरूप है और आकाश से भी महान् है, वह अत्यन्त सुखमय, निष्पन्न सिद्धात्मा जगत् के लिए वंदना योग्य है ॥१॥

इस प्रकार उसके ध्यान मात्र से ही रोग शोक नष्ट हो जाते हैं तथा उसके जाने बिना सब अन्य जानना निरर्थक है। अत. उसी को ध्येय बना कर उसमें ही लीन हो जाना चाहिए। इसलिए यह बात तभी हो सकती है जब आत्मा बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा के स्वरूप को भली प्रकार जान ले। जैसे कि आत्मा से भिन्न पदार्थों में आत्म बुद्धि का जो होना है

वही बहिरात्मा है। किन्तु जिस पुरुष ने बाह्य भावों का उत्थापन करके आत्मा में ही आत्मा का निश्चय किया है, विभ्रम रूप अन्धकार दूर करने में सूर्य के समान उस आत्मा के जानने वाले पुरुषों ने उसी को अन्तरात्मा कहा है। किन्तु जो निर्लेप निष्कलंक शुद्ध कृतकृत्य अत्यन्त निर्वृत और निर्विकल्प है इस प्रकार के शुद्धात्मा को परमात्मा कहा गया है। योगनिष्ठ आत्मा परमात्मा को ध्येय बना कर फिर उसके स्वरूप में तन्मय हो जाना चाहिए। क्योंकि उस का ध्यान यही होता है कि जो वह है सो मैं हूं, जो मैं हूं सो वह है जैसे कि सोऽहम्' अर्हं सः इस प्रकार के अभ्यास से आत्मा तन्मय हो जाता है। कारण कि आत्मसमाधि वास्तव में सुख का कारण होती है किन्तु आत्म समाधि वाले व्यक्ति को योग्य है कि वह सब से पहले इन्द्रियों का संयम और भोजन का विवेक अवश्य कर लेवे। कारण कि जब आहार का विवेक रहेगा तब समाधि में प्रायः कोई भी विघ्न उपस्थित नहीं हो सकेगा।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि किन किन धारणाओं द्वारा समाधिस्थ होना चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है—१ पार्थिवी धारणा २ आग्नेयी धारणा ३ मारुती धारणा ४ वारुणी धारणा और ५ तत्त्वरूपवती धारणा—इन पाँचों धारणाओं द्वारा मनोवृत्ति एकाग्र करके आत्म स्वरूप का चिंतन करना चाहिए तथा इन धारणाओं द्वारा आत्मलीन हो जाना चाहिए।

यदि ऐसा कहा जाए कि इन धारणाओं की संक्षेप से

व्याख्या किस प्रकार से की जाती है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि इन धारणाओं की संक्षेप से व्याख्या इस प्रकार जाननी चाहिए।

१ पार्थिवी धारणा-तिर्यक् लोक में क्षीर समुद्र का चिन्तन करके फिर उसके मध्य भाग में एक सहस्रदल कमल का चिंतन करना चाहिए फिर उसकी कर्णिका के मध्य भाग में एक सुवर्णमय सिंहासन का चिन्तन करना चाहिए फिर उस आसन पर स्थित होकर निज आत्मा का चिन्तन करना चाहिए। जैसे कि मेरा ही आत्मा रागद्वेष के क्षय करने में समर्थ है और यही आत्मा परमात्म गुणों से युक्त है इत्यादि विचार करने से पार्थिवी धारणा का स्वरूप माना जाता है। इसी को पार्थिवी धारणा कहते हैं।

२ आग्नेयी धारणा—नित्य अभ्यास करने वाला योगी अपने नाभिमण्डल में सोलह दल वाले कमल का चिन्तन करे फिर उन दलों में अकारादि सोलह वर्ण मात्राओं को स्थापन करके फिर मध्य कर्णिका में 'अर्हं' शब्द का चिन्तन करे। इतना ही नहीं किन्तु हृदयस्थ कमल जो आठ दल वाला है उसके आठों-दलों में आठों कर्मों की मूल प्रकृतियां मानों 'अर्हम्' शब्द से निकलती हुई प्रचंड ज्वाला द्वारा उन कर्मों को भस्म कर रही हैं इस प्रकार से चिंतन करे। इसी का नाम आग्नेयी धारणा है।

३ मारुती धारणा—फिर योगी इस बात का विचार करे कि जो आठ कर्मों की वा शरीर की भस्म है, उसको महा-वायु वेग उड़ा रहा है और फिर उस भस्म के उड़ जाने से आत्मा निर्मल और परम पवित्र हो गया है तथा उस वायु

वेग को स्थिर रूप चिंतन से शान्त कर लेवे ।

४ वारुणी धारणा—फिर योगी महामेघ का चिंतन करे जैसे कि यह मेघधारा कर्म रज को धो रही है और आत्मा को कर्म कलंक से विमुक्त करके शुद्ध बना रही है । इसी का नाम वारुणी धारणा है ।

५ तत्त्वरूपवती धारणा—इस धारणा का यह मन्तव्य है कि जब आत्मा शुद्ध हो गया तो फिर उसी शुद्ध आत्मा का ध्यान करना चाहिए। जैसे कि कमल सिंहासन पर बैठे हुए विचार करे कि यही मेरा आत्मा सर्वज्ञ सर्वदर्शी सब का उपास्य देव अजर अमर परमात्मा और परमेश्वर है। इस प्रकार के ध्यान को तत्त्वरूपवती धारणा कहते हैं। इसी का नाम पिण्डस्थ ध्यान है।

जब पिंडस्थ ध्यान का अभ्यास भली प्रकार हो जाय तब फिर नाभिमंडल में सोलह दल वाले कमल दल की स्थापना करके फिर उन दलों में वर्णमाला के वर्णों की स्थापना करनी चाहिए। फिर उसके मध्य भाग की किरणिका में एक सुन्दर सिंहासन की कल्पना करके फिर उस पर आरूढ़ हो कर ओ३म्' अर्हम्' 'सोऽहम्' इत्यादि पदों का ध्यान करना चाहिए तथा प्रत्येक श्वासोच्छ्वास के साथ 'अर्हम्' ऐसा शब्द उच्चारण करना चाहिए। इस पद के ध्यान से जिज्ञासु की सब मनोकामना पूरी हो जाती हैं। अतः पदस्थ ध्यान का यही विषय है कि अमुक अमुक पदों से अमुक अमुक कार्य की सिद्धि हो जाती है। इसलिये इस ध्यान को पदस्थ ध्यान कहते हैं।

रूपस्थ ध्यान—पूर्ववत् सिंहासन पर बैठ कर श्रीभगवान् जिस प्रकार समवसरण में विराजमान होते हैं, उनकी आकृति का ध्यान करना और उनकी बढ़ती हुई आत्मिक लक्ष्मी का अपने अनुभव से अन्वेषण करना, उन की अनुपम अतिशय का ध्यान करना-इसी का नाम रूपस्थ ध्यान है। तथा जिस गुरु से धर्म प्राप्ति हुई है वा जिस प्रकार गुरु के गुण शास्त्रों में कथन किये गए हैं, जो उन गुणों से युक्त है, वास्तव में वही गुरु है, उसका ध्यान करना चाहिए। उस ध्यान का आनन्द उसी ध्यानी को अनुभव हो सकता है नतु अन्य को। सो इसी का नाम रूपस्थ ध्यान है।

रूपातीत ध्यान—उस का नाम है कि जब ध्यान करने वाला योगी ध्येय में ही लीन हो जावे, जैसे कि—ध्याता, ध्येय और ध्यान। जब योगी ने परमात्म पद का ध्यान किया तब उस का आत्मा उसी पद में लीन हो गया। जिस प्रकार आत्मा में विद्या लीन हो जाती है, उसी प्रकार जब ध्याता ध्येय में लीन हो गया तब उस ध्यान को रूपातीत ध्यान कहते हैं। इसी ध्यान से आत्मा परमपद प्राप्त कर सकता है या यों कहिये परमात्म पद में लीन होकर परमात्म संज्ञा वाला हो जाता है। इस प्रकार की क्रियाओं से जो आत्म शुद्धि की जाती है उसी का नाम पंडित वीर्य है तथा इसी के प्रतिकूल आर्त ध्यान वा रौद्र ध्यान की पुष्टि के लिए जो क्रियाएं की जावें तथा हिंसा, झूठ, अदत्त मैथुन और परिग्रह के संचय के लिये जो पुरुषार्थ किया जावे उसी का नाम बाल वीर्य है। और जो गृहस्थ धर्म की युक्तिपूर्वक आराधना

की जा सकती है इसी को बाल पंडित वीर्य कहते हैं क्योंकि इस में क्रियाओं की प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही पाई जाती हैं इसी कारण से इसे बाल पंडित वीर्य कहते हैं। अतः सिद्ध हुआ कि आप ही कर्म करता है और आप ही उस के फल को भोगता है तथा आप ही कर्मों से छूटकर मोक्ष पद प्राप्त कर सकता है। निष्कर्ष यह निकला कि जीव गुण होने से कर्मों से पुरुषार्थ बलवान् है।

दशवाँ पाठ

(मोहनीय कर्म के बन्ध विषय)

प्रिय पाठको ! अनादि काल से यह जीव अज्ञानवश नाना प्रकार के कर्मों के करने से नाना प्रकार की योनियों में नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव करता रहा है और फिर अपने निजस्वरूप को भूल कर पर स्वरूप में निमग्न हो रहा है, जिसके कारण से उसका आत्मा परम दुःखित और दीन भाव वाला दीखता है। ये सब चेष्टाएँ इसके अज्ञान भाव की हैं। अतः शास्त्रकारों ने सब से प्रथम ज्ञान को मुख्य माना है क्योंकि जब आत्मा ज्ञान युक्त होता है तब उसका अज्ञान आत्मा से इस प्रकार दूर भागता है जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अन्धकार भाग जाता है। इसलिए सब से प्रथम विद्यार्थियों को उन कर्मों के विषय में बोध होना चाहिए, जिनके करने से आत्मा महामोहनीय कर्म की उपार्जना करता है।

श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने जनता के हित के लिये समवायांग सूत्र के ३० वें स्थान पर उन तीस कर्मों का वर्णन किया है, जिनके करने से जीव महा अज्ञानता के कर्मों की उपार्जना कर के संसार चक्र में परिभ्रमण करता है। अतः वे कर्म न करने चाहिएँ।

अब पाठकों के बोध के लिये सूत्र सहित उक्त ३० अंक लिखे जाते हैं—

पहला महामोहनीय विषय

से या मितसे पाणे पारिमज्के विगाहिया।
उदराण कम्मा मारेइ महामोहं पकुव्वइ ॥ १ ॥

अर्थ—जो कोई व्यक्ति त्रस प्राणियों को जल में डुबो कर जल रूप शस्त्र से मारता है वह महामोहनीय कर्म की उपार्जना करता है।

दूसरा महामोहनीय विषय

सीसावेडेण जे केई आवेढेइ अभिक्खणं।
तिव्वासुभसमायारे महामोहं पकुव्वइ ॥ २ ॥

अर्थ—यदि कोई व्यक्ति किसी त्रस व्यक्ति के शिर पर अतिशय युक्त गीला चर्म आवेष्टन करता है और फिर तीव्र अशुभ समाचार से उसको मारता है वह मारने वाला व्यक्ति महामोहनीय कर्म बांधता है।

तीसरा महामोहनीय विषय

पाणिणा संपिहित्ताणं सोयमावरिय पाणिणं।
अंतो नदंत मारेइ महामोहं पकुव्वइ ॥ ३ ॥

अर्थ—जो हाथ से किसी प्राणी के मुख को ढांप कर गले से न न करते हुए को (गला घोट कर) मारता है वह महा मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है।

चौथा महामोहनीय विषय

जायतं यं समारब्भ बहुं ओरुंभिया जणं।
अंतो धूमेण मारेइ महामोहं पकुव्वइ ॥ ४ ॥

अर्थ जो अग्नि को प्रज्वलित कर बहुत से प्राणियों को महा

[illegible]

मंडप वाटादि में रोक कर भीतर घेरे हुए प्राणियों को धुएँ से मारता है, वह महामोहनीय कर्म बांधता है ।

पाँचवाँ महामोहनीय विषय

सिस्सम्मि जे पहणइ उत्तमंगम्मि चेयसा ।
विभज्ज मत्थयं फाले महामोहं पकुव्वइ ॥ ५ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति संक्लिष्ट चित्त से किसी प्राणी के शिर पर प्रहार करता है और फिर मस्तक का भेदन तथा ग्रीवादि का विदारण करता है, वह व्यक्ति महामोहनीय कर्म की उपार्जना करता है ।

छठा महामोहनीय विषय

पुणो पुणो पणिधिए हरित्ता उवहसे जणं ।
फलेणं अदुवा दंडेणं महामोहं पकुव्वइ ॥ ६ ॥

अर्थ—जो वारम्वार छल से मार्ग में चलते हुए को मारता है तथा मूर्ख आदि को फल से वा दंड से मार कर फिर उन की खूब हँसी करता है, वह महामोहनीय कर्म को बांधता है।

सातवाँ महामोहनीय विषय

गूढायारीनि गूहिज्जा मायं मायाएँ छायए ।
असच्चवाई णिण्हाई महामोहं पकुव्वइ ॥ ७ ॥

अर्थ—जो अपने गुप्ताचार को छिपाता है, छल को छल से आच्छादन करता है, असत्य बोलता है और अपने अवगुणों को छिपाता है, वह महामोहनीय कर्म बाधता है ।

आठवाँ महामोहनीय विषय

धंसइ जो अभूएणं अकम्मं अत्तकम्मुणा ।
अदुवा तुमं कासित्ति महामोहं पकुव्वइ ॥८॥

अर्थ—जो अपने किये हुए दुष्ट कर्म को छिपाता है, जिसने दुष्ट कर्म नहीं किया उस के शिर पर कलंक देता है और कहता है कि रे तू ने उक्त कर्म किया है इस प्रकार करने से वह महामोहनीय कर्म को बांधता है ।

नवाँ महामोहनीय विषय

जाणमाणो परिसओ सच्चा मोसाणि भासइ ।
अक्खीणझंझे पुरिसे महामोहं पकुव्वइ ॥९॥

अर्थ—सत्य और असत्य को जानता हुआ भी जो सभा में मिश्रित भाषण करता है तथा जो कलह से भी निवृत्त नहीं हुआ वह पुरुष महामोहनीय कर्म की उपार्जना करता है ।

दशवाँ महामोहनीय विषय

अणायगस्स नयवं दारे तस्सेव धंसिया ।
विउलं विक्खोभइत्ताणं किच्चाणं पडिबाहिरं ॥१०॥
उवगसंतंपि झंपित्ता पडिलोमाहिं वग्गुहिं ।
भोगभोगेवियारेइ महामोहं पकुव्वइ ॥११॥

अर्थ—जो नीतिकुशल मंत्री राजा की रानी से भोग करता है उस राजा के अर्थागम के मार्गों को बंद करके आप सुखों का अनुभव करता है अन्य सामंतादि में भय डाल कर राजा का चित्त क्षुब्ध करके राज्यसत्ता का स्वयं अधिष्ठाता

बनता है और समीप आजाने पर भी सर्वस्वापहार करने पर फिर अनुकूल वा प्रतिकूल वचनों से तिरस्कार कर राजा के सुखों का विदारण करता है, वह व्यक्ति महामोहनीय कर्म बांधता है।

ग्यारहवाँ महामोहनीय विषय

अकुमारभूए जे केई कुमारभूएत्ति हं वए।
इत्थीहिं गिद्धेवसए महामोहं पकुव्वइ ॥१२॥

अर्थ—जो बालब्रह्मचारी नहीं है किन्तु अपने आपको बाल ब्रह्मचारी कहता है और स्त्रियों के विषय में गृद्धित हो रहा है अर्थात् स्त्री के वशवर्त्ती है, वह महामोहनीय कर्म बांधता है।

बारहवाँ महामोहनीय विषय

अबंभयारी जे केई बंभयारीत्ति हं वए।
गद्दहेव्व गवां मज्झे विस्सर नयई नदं ॥१३॥
अप्पणो अहिए बाले माया मोसं बहुं भसे।
इत्थीविसए गेहीए महामोहं पकुव्वइ ॥१४॥

अर्थ—जो व्यक्ति अब्रह्मचारी है किन्तु अपने आपको जनता मे ब्रह्मचारी कहता है, उसका शब्द ऐसे है जैसे कि गौओं के मध्य में गर्दभ बोलता हो। आत्मा का अहित करने वाला जो मूढ और छली बहुत झूठ बोलता है और स्त्री के विषय में मूर्च्छित (आसक्त) है, वह महामोहनीय कर्म को बांधता है।

तेरहवाँ महामोहनीय विषय

जं निस्सिए उव्वहइ जससा हिगमेण वा।
तस्स लुब्भइ वित्तंमि महामोहं पकुव्वइ ॥१५॥

अर्थ—जिस राजा के आश्रित होकर निर्वाह किया जाता है जिसके यश से सत्कार मिलता है और जिसकी सेवा से शांतिपूर्वक निर्वाह हो रहा है उस राजा के धन के लिए जो अन्याय पूर्वक लुब्ध होता है वह महामोहनीय कर्म बांधता है।

चौदहवाँ महामोहनीय विषय

ईसरेण अदुवा गामेणं अणिसरे ईसरी कए ।
तस्स सपग्गहीयस्स सिरी अतुल मागया ॥१६॥
ईसादोसेण आविठ्ठे कलुसाविलचेयसे ।
जे अंतरायं चेएइ महामोहं पकुव्वइ ॥१७॥

अर्थ—ईश्वर ने अथवा ग्राम की जनता ने अनीश्वर व्यक्ति को ईश्वर बना दिया उस ईश्वर की कृपा से अतुल लक्ष्मी की प्राप्ति हुई। ईर्ष्या दोष से आविष्ट होकर द्वेष और लोभ के वशीभूत होकर फिर जो कलुषित चित्त से उस ईश्वर के धनादि में अंतराय करता है अर्थात् उपकारी के उपकार को न मान कर उसके साथ वैर भाव करता है वह व्यक्ति महा मोहनीय कर्म बांधता है।

पन्द्रहवाँ महामोहनीय विषय

सप्पी जहा अंडउडं भत्तारं जो विहिंसइ ।
सेणावइं पसत्थारं महामोहं पकुव्वइ ॥१८॥

अर्थ—जैसे सर्पिणी निज अण्डों को भक्षण करती है उसी प्रकार जो व्यक्ति अपने स्वामी को मारता है या जो सैनिक सेनापति को मारता है, जो अमात्य राजा को मारता

है तथा जो विद्यार्थी अपने अध्यापक को मारता है, वह महा मोहनीय कर्म बाधता है।

सोलहवॉ महामोहनीय विषय

जे नायगं च रट्टस्स नेयारं निगमस्स वा ।
सेट्ठिं बहुरवं हंता महामोहं पकुव्वइ ॥१६॥

अर्थ—जो राष्ट्रीय स्थविर (नेता) को वा व्यापार के नेता को तथा बहुयश वाले राष्ट्रीय वा नगर श्रेष्ठी (सेठ) को मारता है, वह महामोहनीय कर्म बांधता है।

सत्रहवॉ महामोहनीय विषय

बहुजणस्स णेयारं दीवं ताणं च पाणिणं ।
एयारिसं नरं हंता महामोहं पकुव्वइ ॥२०॥

अर्थ—जो व्यक्ति द्वीपवत् प्राणियों के लिये आधारभूत है और जो बहुत से जनों का नेता है तथा दीपवत् न्याय मार्ग को प्रकाशित करने वाला है, ऐसे पुरुष को मारने वाला महा-मोहनीय कर्म की उपार्जना करता है।

अठारहवॉ महामोहनीय विषय

उवट्ठियं पडिविरयं संजयं सुतवस्सिय ।
वुकम्म धम्माओ भंसइ महामोहं पकुव्वइ ॥ २१ ॥

अर्थ—जो धर्म करने के लिये उपस्थित हुआ है, जो भिक्षु हिंसादि से निवृत्त होकर सयत (यत्नशील) और तप करने वाला है, उसको जो बलात्कार से धर्म भ्रष्ट करता है, वह महामोहनीय कर्म बांधता है।

उन्नीसवाँ महामोहनीय विषय

तहेवार्णतणाणीणं जिणाणं वरदंसीणं (वरदरिसणं)।
तेसिं अवण्णवं वाले महामोहं पकुव्वइ ॥ २२ ॥

अर्थ—उसी प्रकार जो अज्ञानी पुरुष अनंत ज्ञान और अनंत दर्शन के धारण करने वाले अर्हंत भगवंतों का अवर्णवाद (मिथ्याकारी वचन) कथन करता है वह महामोहनीय कर्म बांधता है।

बीसवाँ महामोहनीय विषय

नेयाउअस्स मग्गस्स दुट्ठे अवयरई बहुं।
त निप्पयंतो भावेइ महामोहं पकुव्वइ ॥ २३ ॥

अर्थ—जो न्यायकारी मार्ग का अपकार करता है अथवा जो बहुत जनों को धर्म से पराङ्मुख करता है तथा जो न्याय मार्ग की निन्दा करता हुआ द्वेष से अपनी आत्मा को न्याय मार्ग से च्युत करता है वह व्यक्ति महामोहनीय कर्म बांधता है।

इक्कीसवाँ महामोहनीय विषय

आयरियउवज्झाएहिं सुयं विणयं च गाहिए।
त चेव खिंसइ बाले महामोहं पकुव्वइ ॥ २४ ॥

अर्थ—जो आचार्य और उपाध्यायों से श्रुत और चारित्र सीखकर फिर उनकी निन्दा करता है और उनका अल्पमति वाला कहता है वह अज्ञानी महामोहनीय कर्म बांधता है।

बाईसवाँ महामोहनीय विषय

आयरियउवज्झायाणं सम्मं नो पडितप्पइ।
अप्पडिपूयए थद्धे महामोहं पकुव्वइ ॥ २५ ॥

अर्थ—जो आचार्य और उपाध्यायों द्वारा उपकृत किया हुआ फिर सम्यक्तया उनकी प्रतिपत्ति नहीं करता और न उनकी सेवा करता है किन्तु अहङ्कार में भरा रहता है, वह महामोहनीय कर्म उपार्जन करता है।

तेईसवॉ महामोहनीय विषय

अबहुस्सुए य जे केई सुएणं पविकत्थई।
सज्झायवायं वयइ महामोहं पकुव्वइ ॥ २६ ॥

अर्थ—यदि कोई बहुश्रुत नहीं है किन्तु श्रुत से अपनी आत्मश्लाघा करता है कि 'मैं बहुश्रुत हूं' और स्वाध्याय विषय वाद करता है कि 'मैं ही शुद्धपाठोच्चारण करने वाला हूं' वह महामोहनीय कर्म बांधता है।

चौवीसवॉ महामोहनीय विषय

अतवस्सीए य जे केई तवेण पविकत्थइ।
सव्वलोये परे तेणे महामोहं पकुव्वइ ॥ २७ ॥

अर्थ—जो कोई तपस्वी नहीं है किन्तु अपने आपको तपस्वी कहता है, वह सर्वलोक में सब से बढ़कर भाव चोर है, इस से वह महामोहनीय कर्म बांधता है।

पच्चीसवॉं महामोहनीय विषय

साहारणट्ठा जे केई गिलाणम्मि उवट्ठिए।
पभू ण कुणइ किच्चं मज्झंपि से न कुव्वइ ॥ २८ ॥
सढेनियडीपण्णाणे कलुसाउलचेयसे।
अप्पणो य अबोहीय महामोहं पकुव्वइ ॥२९॥ (युग्मम्)

अर्थ—जो कोई उपकार करने की सामर्थ्य होने पर भी रुग्णावस्था में रोगी की सेवा नहीं करता प्रत्युत कह देता है कि 'क्या इसने मेरी सेवा की थी?' और जो दुर्मति तथा कपटाचारी रोगियों की सेवा से भी चुराया चाहता है, वह कलुषित चित्त वाला आत्मा में अबोधिभाव उत्पन्न कर रोगियों की सेवा से पराङ्मुख होकर महामोहनीय कर्म की उपार्जना करता है।

छब्बीसवाँ महामोहनीय विषय

जे कहाहि गरणाई संपउंजे पुणो पुणो ।
सव्वतित्थाणभेयाए महामोहं पकुव्वइ ॥ २० ॥

अर्थ—जो कोई बार बार हिंसादि के कर्म वाली कथा का कथन करता है तथा ज्ञान दर्शन चारित्ररूप तीर्थ के नाश करने वाली कथा का कथन करता है वह महामोहनीय कर्म की उपार्जना करता है।

सत्ताईसवाँ महामोहनीय विषय

जे अ आहम्मिए जोए संपउंजे पुणो पुणो ।
सहाहेउं सहीहेउं महामोहं पकुव्वइ ॥ २१ ॥

अर्थ—जो श्लाघा वा मित्रता के वास्ते अधार्मिक योगों का बार बार संप्रयोग करता है, वह महामोहनीय कर्म की उपार्जना कर लेता है।

अट्ठाईसवाँ महामोहनीय विषय

जे अ माणुस्सए भोए अदुवा पारलोइए ।
तेऽतिप्पयंतो आसयइ महामोहं पकुव्वइ ॥

अर्थ—जो मनुष्य के काम भोगों की अथवा परलोक के काम भोगों की इच्छा करता हुआ अभिलाषा रखता है, वह महामोहनीय कर्म को बांधता है।

उनतीसवाँ महामोहनीय विषय

इड्ढी जूई जसो वरणो देवाणं बलवीरियं ।
ते सिं अवण्णवंवाले महामोहं पकुव्वइ ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो मूढ व्यक्ति देवों की ऋद्धि, द्युति यश, वर्ण तथा शक्ति आदि की निंदा करता है, वह महामोहनीय कर्म बांधता है।

तीसवाँ महामोहनीय विषय

अपस्समाणो पस्सामि देवे जक्खे य गुज्झगे ।
अणाणी जिणपूयट्ठी महामोहं पकुव्वइ ॥ ३४ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति देव, यक्ष, गुह्यक आदि देवों को न देखता हुआ भी कहता है कि मैं इन्हें देखता हूं और फिर वह अज्ञानी जिनेन्द्र देव के समान अपनी पूजा की इच्छा रखता है अर्थात् निज पूजार्थी है, वह महामोहनीय कर्म की उपार्जना करता है।

भद्रपुरुषो ! इस प्रकार श्रीश्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने प्रत्येक प्राणी के हित के लिये उक्त स्थानों का वर्णन किया। इन के द्वारा प्रत्येक प्राणी को स्वकीय कर्तव्यता का भली भांति बोध हो जाता है। फिर वह अपनी कर्तव्य परायणता को समझ कर उस में आरूढ़ हो सकता है। इन शिक्षाओं में राष्ट्रीय शिक्षाएँ भी कूट कूट कर भरी गई हैं, धार्मिक शिक्षाएं

भी भली भांति दिखलाई गई हैं, व्यावहारिक शिक्षाओं का भी दिग्दर्शन कराया गया है मूढ़ता के कारण से जो अनर्थ हो पाते हैं उन का भी दिग्दर्शन कराया गया है। अतः वे १४ गाथाएं प्रत्येक विद्यार्थी के कण्ठस्थ रखने योग्य हैं, जिन से उन को अपने कर्तव्य का भली भांति ज्ञान हो जाय।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि महामोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति कितनी वर्णन की गई है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोटाकोटि सागरोपम की प्रतिपादन की गई है जिस स्थिति का असंख्य काल बनता है। अत उक्त कर्मों द्वारा आत्मा असंख्य काल के अनुभव करने वाले कर्मों की उपार्जना कर लेता है जिस से वह धर्ममार्ग से पराङ्मुख होकर चारों गतियों में प्रायः अशुभ कर्मों का अनुभव करता रहे तथा पृथिवी आदि कायों में उक्त स्थिति का अनुभव कर ले। निष्कर्ष यह निकला कि शुद्ध पुरुषों को उक्त ३० महामोहनीय कर्मों का आसेवन कदापि न करना चाहिए क्योंकि इन के आसेवन से आत्मा सन्मार्ग से पतित होकर कुमार्गगामी बन जाता है अतः ये कर्म कदापि अंगीकृत न करने चाहिएं।

यदि ऐसा कहा जाय कि इन से निवृत्ति किस प्रकार हो सकती है ? तब इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि सत् शास्त्रों के स्वाध्याय पवित्र आत्माओं की संगति ज्ञान, वैराग्य और निर्वाण पद में पूर्ण निष्ठा से उक्त कर्मों से बच सकते हो जिसका अन्तिम फल निर्वाण पद की प्राप्ति ही हो जाता है।

ग्यारहवाँ पाठ

(गुरु शिष्य का संवाद)

शिष्य—हे भगवन् ! आत्मा किस प्रकार से अपने अन्त-करण की शुद्धि कर सकता है ?

गुरु—हे शिष्य ! आलोचना द्वारा अन्त करण की शुद्धि की जा सकती है ।

शिष्य—हे भगवन् ! आलोचना किसे कहते हैं ?

गुरु—हे शिष्य ! जो पाप कर्म गुप्त रूप से किया गया हो, उस कर्म की गुरु के पास आलोचना करनी चाहिए अर्थात् गुरु के समक्ष उस कर्म को प्रकट कर देना चाहिए। गुरु उस कर्म का जो प्रायश्चित्त प्रदान करें उसे सहर्ष स्वीकार करना चाहिए क्योंकि वह प्रायश्चित्त आत्म शुद्धि के लिये ही होता है। किन्तु आलोचना करते समय निस्संकोच भाव से अपने हृदय के शल्यों को निकाल देना चाहिए जिससे हृदय की शुद्धता पूर्ण प्रकार से हो सके।

शिष्य—हे भगवन् ! किस गुरु के पास आलोचना करनी चाहिए ?

गुरु—जो गुरु साधु के गुणों से पूर्ण हो, जिस में धैर्य गुण विशेषतया पाया जाता हो, जो उस दोष को किसी अन्य

के पास प्रकाशित न करे जिसकी आत्मा पर उस दोष के सुनने से किसी प्रकार से बुरा प्रभाव न पड़ सकता हो और जिसकी आत्मा संयम गुण में तल्लीन हो वही गुरु वास्तव में आलोचना सुनने के योग्य हो सकता है।

शिष्य—यदि सर्व प्रकार से परीक्षा किये जाने पर भी गुरु धैर्य गुण से रहित पाया गया उसने अमुक व्यक्ति के सुने हुए दोष का कतिपय लोगों के प्रति वर्णन कर दिया तो फिर उस उस गुरु को क्या प्रायश्चित्त आता है?

गुरु—हे शिष्य! जिस गुरु ने उस दोष को प्रकाशित किया वास्तव में उस शिष्य को उस दोष का यावन्मात्र प्रायश्चित्त आया था वही प्रायश्चित्त उस गुरु को आता है। किन्तु जिसने आलोचना की थी उसका तो आत्मा शुद्ध हो ही चुका है।

शिष्य—हे भगवन्! आपत्ति काल के समय धर्मात्माओं को क्या करना चाहिए?

गुरु—हे शिष्य! आपत्ति काल के समय धर्मात्माओं को योग्य है कि वे धर्म में दृढ़ता रक्खें। कारण कि सौ मित्र धैर्य और धर्म—इनकी परीक्षा विपत्ति काल में ही होती है। जब आपत्ति काल के आने पर धर्म से स्खलित हो गया तो भला फिर उस धर्म की दृढ़ता कहाँ पर देखी जायगी?

शिष्य—जब आपत्ति काल के आने पर अपना जीवन ही न रहता हो तो फिर उस समय धर्मात्माओं को क्या करना चाहिए?

गुरु—धर्मरक्षापूर्वक जीवन रक्षा करनी चाहिए

त्याग कर जीवन रक्षा। क्योंकि वास्तव में वही जीवन श्रेष्ठ है जो धर्मपूर्वक हो। परन्च जो धर्म से रहित जीवन है वह किसी काम का जीवन नहीं है। अत. आपत्ति काल के आजाने पर भी धर्मात्माओं को योग्य है कि वे जीवनोत्सर्ग करके भी धर्म की रक्षा करें जिससे फिर धर्म उनकी रक्षा कर सके और लोगों के लिए आदर्श वन सके।

शिष्य—हे भगवन्! धर्मरूपी मंदिर में प्रविष्ट होने के लिये कौन कौन से मार्ग हैं?

गुरु—हे शिष्य! धर्मरूपी मन्दिर में प्रविष्ट होने के लिये चार मार्ग हैं। जैसे कि—१ क्षमा २ निर्लोभता ३ आर्जव भाव और ४ सकोमल भाव (मार्दववृत्ति)। इन चारों कारणों से धर्मरूपी मन्दिर में सुखपूर्वक प्रविष्ट हो सकते हो।

शिष्य—हे भगवन्! उक्त चारों मार्गों का ज्ञान किस प्रकार से हो सकता है?

गुरु—हे शिष्य! शिक्षा द्वारा।

शिष्य—हे भगवन्! शिक्षा कितने प्रकार से वर्णन की गई है?

गुरु—हे शिष्य! शिक्षा दो प्रकार से प्रतिपादन की गई है जैसे कि—१ ग्रहण शिक्षा और २ आसेवन शिक्षा। ग्रहण शिक्षा से यह जानना चाहिए कि विधिपूर्वक पठन और पाठनादि क्रियाएँ की जायें। आसेवन शिक्षा का यह मन्तव्य है कि जिस प्रकार शास्त्रों के स्वाध्याय से धार्मिक क्रिया कलाप जाने जायें, फिर उसको उसी प्रकार निज काय द्वारा आचरित करना चाहिए।

शिष्य—हे भगवन् ! जो तपोकर्म दूसरे की सहायता के बिना स्वशक्ति अनुसार किया जाता है उसका फल क्या है ?

गुरु—हे शिष्य ! जो तपोकर्म दूसरे की सहायता को छोड़ कर केवल स्वशक्ति अनुसार किया जाता है उसका फल इस लोक में यह होता है कि उसका आत्मा सदैव प्रसन्न रहता है क्रोधादि का उदय नहीं होता। कारण कि यह तपोकर्म निरपेक्ष भावों से किया गया था और परलोक में निरपेक्षता के कारण से वह तप आराधिकता का मुख्य कारण बनता है जिसके कारण से आत्मा बहुत ही शीघ्र कर्म इन्धन को जलाकर निर्वाण पद की प्राप्ति कर लेता है। अतः जो तपोकर्म किए जायें व सब लोक और परलोक की आशा छोड़कर ही करने चाहिये।

शिष्य—हे भगवन् ! शरीर का ममत्व भाव त्यागने से किस फल की प्राप्ति होती है ?

गुरु—हे शिष्य ! शरीर के ममत्व भाव के त्यागने से ज्ञान दर्शन और चारित्र की पूर्ण प्रकार से आराधना की जा सकती है जिसके कारण से निर्वाण पद की शीघ्र प्राप्ति हो जाती है और फिर सर्व प्रकार के कष्ट शान्तिपूर्वक सहन किए जा सकते हैं—गजसुकुमारवत्।

शिष्य—हे भगवन् ! यश आदि की आशा छोड़कर जो तप आदि क्रियाएं की जाती हैं उनका फल क्या होता है ?

गुरु—हे शिष्य ! उक्त प्रकार से क्रियाएँ करने पर कर्म क्षय और निर्वाण पद की शीघ्र प्राप्ति हो जाती है।

शिष्य—हे भगवन् ! निर्लोभता करने से किस सुख की प्राप्ति होती है ?

गुरु—हे शिष्य ! सन्तोष रूपी धन की प्राप्ति हो जाती है, जिसका अन्तिम परिणाम यह होता है कि आत्मा निज स्वरूप में निमग्न होता हुआ परमात्म पद में लीन हो जाता है अर्थात् जिस प्रकार दीपक की प्रभा में अन्य दीपक की प्रभा एकरूपता धारण कर लेती है, उसी प्रकार निर्लोभी आत्मा भी सिद्ध पद में लीन हो जाता है, जिससे फिर वह अक्षय सुख का अनुभव करने वाला होता है।

शिष्य—हे भगवन् ! तितिक्षा सहन करने से किस गुण की प्राप्ति होती है ?

गुरु—हे अन्तेवासिन् ! कष्टों के सहन करने से आत्मा में एक अलौकिक शक्ति का संचार होने लगता है, जिसके कारण से फिर आत्मा में उत्साह और अनन्त बल का प्रादुर्भाव होने लग जाता है तथा फिर जिससे आत्मा विकास मार्ग की ओर झुकने लगता है।

शिष्य—हे भगवन् ! ऋजुभाव धारण करने से किस गुण की प्राप्ति होती है ?

गुरु—हे शिष्य ! आर्जवभाव के धारण करने से आत्मा की धर्म में परम दृढ़ता हो जाती है, फिर शुभ नाम कर्म की प्रकृतियों का भी बंध होने लगता है। इतना ही नहीं किन्तु उसका प्रत्येक जीव के साथ मैत्री भाव हो जाता है। कारण कि मैत्री आदि के विघात करने वाली छलादि क्रियाएँ होती हैं, उन क्रियाओं का आर्जवभाव में अभाव सा ही हो जाता है। अतः उसकी प्राणिमात्र से मैत्री हो जाती है।

शिष्य—शुचि किसे कहते हैं ?

गुरु—शुचि दो प्रकार से वर्णन की गई है जैसे कि द्रव्य से शुचि और भाव से शुचि। द्रव्य शुचि मिट्टी पानी अग्नि और मंत्र से होती है और भाव शुचि सत्य और संयम से होती है। तात्पर्य यह है कि जिन क्रियाओं द्वारा आत्म शुद्धि की जाए, उन क्रियाओं का नाम ही भाव शुचि है।

शिष्य—सम्यग् दृष्टि गुण धारण करने से किस फल की प्राप्ति होती है?

गुरु—सम्यग् दर्शन से आत्मा संसार सागर से पार हो जाता है तथा सम्यग् दर्शन के माहात्म्य से प्राचीन कर्म क्षय किये जाते हैं फिर नूतन मिथ्यात्व के कारणों से कर्म संचय नहीं होता।

शिष्य—समाधि लगाने से किस गुण की प्राप्ति होती है?

गुरु—समाधि द्वारा राग और द्वेष क्षय हो जाते हैं आत्मा निज स्वरूप में लीन हो जाता है जिसका अन्तिम परिणाम यह होता है कि आत्मा निजानन्द को प्राप्त होता हुआ निर्वाणपद की प्राप्ति कर लेता है।

शिष्य—शुद्धाचार पालन करने से किस गुण की प्राप्ति होती है?

गुरु—आत्मा विकास की ओर झुकने लगता है और छद्म क्रियाओं से दूर हो जाता है।

शिष्य- विनय करने से किस गुण की प्राप्ति होती है?

गुरु सभ्यता योग्यता न्यायशीलता कर्तव्यपरायणता आदि गुणों की प्राप्ति हो जाती है।

शिष्य धृति मति के धारण करने से क्या फल मिलता है?

गुरु—धैर्य वाली मति के धारण करने से अदैन्य गुण की प्राप्ति हो जाती है, उत्साह, गांभीर्यभाव, सहन शीलता बढ़ जाते हैं, जिस से फिर वह व्यक्ति कठिनतर कार्य के साधन में भी अपना सामर्थ्य उत्पन्न कर लेता है। इतना ही नहीं, किन्तु उसके आत्मा पर हर्ष और शोकादि के कारणों का विशेष प्रभाव नहीं पड़ सकता। अतः उसका आत्मा अकम्पन शील हो जाता है।

शिष्य—संवेग धारण करने से किस फल की प्राप्ति होती है?

गुरु—वैराग्य के धारण करने से मोक्षाभिलाप बढ़ जाता है, सांसारिक पदार्थों से उदासीन भाव आ जाता है और चित्त में अनित्य भावना का निवास हो जाने से आत्मा निज स्वरूप की खोज में ही लग जाता है।

शिष्य—हे भगवन्! प्रणिधि शब्द का क्या अर्थ है?

गुरु—हे शिष्य! प्रणिधि शब्द का अर्थ है कि माया शल्य न करना चाहिए अर्थात् धर्मात्माओं से कदापि छल न करना चाहिए।

शिष्य—हे भगवन्! 'सुविहि' शब्द का क्या अर्थ है?

गुरु—हे शिष्य! सुविहि शब्द का अर्थ है कि सदनुष्ठान करना चाहिए। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को योग्य है कि वह सदनुष्ठान (श्रेष्ठाचरण) द्वारा ही अपना जीवन व्यतीत करे।

शिष्य—हे भगवन्! संवर करने से किस गुण की प्राप्ति होती है?

गुरु—हे शिष्य! संवर करने से कर्म आने के आस्रवों (मार्गों) का भली भांति निरोध किया जाता है।

शिष्य—हे भगवन् ! आत्मीय दोषों के निराकरण करने से किस गुण की प्राप्ति होती है ?

गुरु—हे शिष्य ! आत्मीय दोषों के निराकरण करने से आत्मा की सर्वथा शुद्धि हो जाती है। जैसे कि मलयुक्त वस्त्र को क्षार से धोने से उसका मल निकल जाता है, उसी प्रकार आत्म ध्यान से आत्मिक दोष—क्रोध मान माया और लोभ रूप दूर हो जाते हैं।

शिष्य—हे भगवन् ! समस्त विषय जन्य सुखों की निवृत्ति करने से किस गुण की प्राप्ति होती है ?

गुरु—हे शिष्य ! समस्त विषय जन्य सुखों के त्यागने से आत्मिक सुख की प्राप्ति हो जाती है जो अक्षयसुख रूप है।

शिष्य—हे भगवन् ! प्रत्याख्यान (नियम) करने से किस गुण की प्राप्ति होती है ?

गुरु—हे शिष्य ! आश्रव द्वारों का निरोध हो जाता है और आत्मा दृढ़ प्रतिज्ञा वाला होने से आत्मिक बल को अनुभव करने वाला हो जाता है।

शिष्य—हे भगवन् ! व्युत्सर्ग करने से क्या फल होता है ?

गुरु—हे शिष्य ! व्युत्सर्ग काय के ममत्व भाव को छोड़ कर ध्यानस्थ हो जाने से आत्मा पूर्व संचित अनंत कर्मों का क्षय कर सकता है अनुक्रम से आरुढ़ता करता हुआ अनन्त ज्ञान और अनंत दर्शन की प्राप्ति कर लेता है।

शिष्य—हे भगवन् ! अप्रमाद करने से किस गुण की उपलब्धि हो जाती है ?

गुरु—हे शिष्य ! अप्रमाद करने से स्वकार्य की सफलता

निर्भयता तथा दक्षता गुण की प्राप्ति हो जाती है।

शिष्य—हे भगवन्! क्षण क्षण में क्या करना चाहिए?

गुरु—हे शिष्य! प्रत्येक क्षण धर्मध्यानपूर्वक व्यतीत करना चाहिए जिससे आत्मस्वरूप की उपलब्धि हो सके। दिनचर्या वा रात्रिचर्या समय विभाग कर के व्यतीत करनी चाहिए, जिससे ज्ञानावरणीयादि कर्मों का क्षय हो जाए। ज्ञानावरणीयादि कर्मों के क्षयोपशम होने से भी आत्मा निज कल्याण करने में समर्थ हो जाता है।

शिष्य—ध्यान सवरयोग का क्या अर्थ है?

गुरु—हे शिष्य! 'ध्यानमेव संवरयोगो ध्यानसंवरयोगः' अर्थात् जिस का ध्यान ही संवरयोग है उसी को 'ध्यान संवर-योग' कहते हैं। सारांश इतना ही है कि योगों को ध्यान और संवर में ही लगाने से स्वकार्यसिद्धि हो सकती है।

शिष्य—हे भगवन्! मारणांतिक कष्टों के सहारने से किस गुण की प्राप्ति हो सकती है?

गुरु—हे भद्र! धर्म की रक्षा के लिये मारणांतिक कष्टों के सहने से निज स्वरूप की प्राप्ति हो सकती है तथा अभीष्ट कार्य की सिद्धि हो जाती है।

शिष्य—हे भगवन्! कुसग त्यागने से किस गुण की प्राप्ति होती है?

गुरु—हे शिष्य! कुसंग त्यागने से सुसंग की प्राप्ति हो हो जाती है आत्मा सदनुष्ठान में लगा रहता है। कारण कि कुसंग दोष अंगार (कोयले) के समान है। यदि अंगार उष्ण होगा तब तो शरीर के अवयवों को भस्म कर

देगा यदि शीतल होगा तब कालापन कर देगा। इसी प्रकार कुसंग दोष होता है। जैसे कि दुष्टों की बातें मानते रहोगे तब धन और सदाचार का नाश होता रहेगा यदि उन की बात मानली छोड़ दोगे तब जाति वा अपने पर कलंक लग जायगा। अतः कुसंग सर्वथा ही त्याज्य है।

शिष्य—हे भगवन् ! प्रायश्चित्त करने से किस गुण की प्राप्ति हो जाती है ?

गुरु—हे शिष्य ! प्रायश्चित्त धारण करने से आत्म शुद्धि हो जाती है कारण कि आध्यात्मिक दोषों के तप द्वारा भस्म हो जाने से फिर आत्मा निर्मल हो जाता है।

शिष्य—हे भगवन् ! अन्तिम समय में श्री भगवान् के वचनों की सम्यक्तया आराधना करने से किस फल की प्राप्ति होती है ?

गुरु—हे शिष्य ! अन्तिम समय में आराधना करने से आत्मा आराधिक हो जाता है जिस से वह शीघ्र ही निर्वाण पद की प्राप्ति के योग्य हो जाता है। अतः मृत्यु के समय निर्वैरभाव धारण करके सम्यग् दर्शन ज्ञान और चारित्र की पूर्णतया आराधना करनी चाहिए जिस से आत्मा सर्वथा कर्म बन्धन से छूटकर अक्षय सुख की प्राप्ति कर सके।

शिष्य—हे भगवन् ! जैन शास्त्रों में स्त्री जाति को धर्म क्रियाओं के करने में पुरुष के समान अधिकार दिए गए हैं वा पुरुष से न्यून अधिकार कथन किये हैं ?

गुरु—हे शिष्य ! जैन शास्त्रों में स्त्रीजाति को धर्मादि क्रियाओं के करने में और उन क्रियाओं के फलों के विषय में

पुरुष के समान ही अधिकार दिए गए हैं। जैसे कि—जिस प्रकार श्रावक द्वादश व्रतादि धारण कर सकते हैं, उसी प्रकार श्राविका भी द्वादश व्रतादि धारण कर सकती है। जिस प्रकार श्रावक आराधिक वन सकता है, उसी प्रकार श्राविका भी आराधिक हो सकती है। जिस प्रकार पुरुष साधुवृत्ति ले सकता है, उसी प्रकार स्त्री भी आर्या (निर्ग्रथी वा साध्वी) वन सकती है। जिस प्रकार साधु कर्म क्षय करके निर्वाण पद की प्राप्ति कर सकता है, उसी प्रकार साध्वी भी कर्म क्षय कर के मोक्षपद प्राप्त कर सकती है। जिस प्रकार साधु केवल ज्ञान प्राप्त कर जनता में उपदेश द्वारा परोपकार कर सकता है, उसी प्रकार साध्वी भी केवल ज्ञानयुक्त उपकार करती है। जिस प्रकार साधु को पाच प्रकार के स्वाध्याय (वाचना, पृच्छना, परिवर्त्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा) करने की आज्ञा है, उसी प्रकार आर्या को भी है। अतः जैनशास्त्रों में स्त्री जाति को वे ही अधिकार हैं, जो पुरुष के लिये कथन किये गए हैं। इसीलिए जैन सूत्रों में लिखा है कि-पंचदश भेदी सिद्ध होते हैं। उन भेदों में यह सूत्र भी आता है कि 'स्त्रीलिंगसिद्धा.' अर्थात् स्त्रीलिंग में भी सिद्ध होते हैं। इसलिये यह वात निर्विवाद सिद्ध हो गई कि जितने अधिकार पुरुष को हैं, उतने ही स्त्री को भी हैं। किन्तु ये सव अधिकार योग्यता पूर्वक ही दिए जाते हैं और योग्यता पूर्वक ही उत्पन्न किये जाते हैं।

शिष्य—क्या स्त्रीलिंग में कोई जीव तीर्थंकर पद भी ग्रहण कर सकता है ?

गुरु—सामान्य केवली पद तो स्त्रीलिंग में प्राप्त किया ही

जाता है किन्तु इस अवसर्पिणी काल में चतुर्विंशति तीर्थंकरों में से १९वें तीर्थंकरदेव स्त्रीलिंग में भगवान् मल्लिनाथ जी हुए हैं। यद्यपि इस विषय को आश्चर्यरूप माना गया है तथापि स्त्री का तीर्थंकर होना तो सिद्ध हो गया।

शिष्य—"नमो लोए सव्वसाहूणं" इस सूत्र में लोक में यावन्मात्र साधु हैं उन को तो नमस्कार किया गया है किन्तु "नमो लोए सव्वसाहुणीणं" इस प्रकार साध्वी को नमस्कार नहीं किया गया। इस का क्या कारण है?

गुरु—इस नवकार मंत्र के पंच पदों में पंच उपाधियों को नमस्कार किया गया है नतु लिंग विशेष को। इसलिये यहां पर "नमो लोए सव्वसाहुणीणं" इस पाठ की आवश्यकता नहीं है। जैसे कि 'नमो अरिहंताणं' ऐसे पद तो नवकार मंत्र में हैं किन्तु "नमो तित्थयराणं" ऐसे पाठ नहीं हैं। कारण कि 'अरिहंत' पद एक गुण विशेष (संज्ञा) उपाधि है और तीर्थंकर पद एक नाम कर्म की पुण्य रूप प्रकृति है अतः वह प्रकृति किसी जीव को ही प्राप्त होती है। किन्तु 'अरिहंत' संज्ञा ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय और अन्तराय कर्म के क्षय होने से उपलब्ध हो सकती है। वह संज्ञा तीर्थंकर वा सामान्य केवली में तुल्य होती है इसलिये 'नमो अरिहंताणं' पद युक्तिसंगत है। किन्तु नवकार मंत्र में 'नमो तित्थयराणं' पद की आवश्यकता नहीं थी इसलिये इस पद को स्थान नहीं दिया गया है। इसी प्रकार सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु पद के विषय में भी जानना चाहिए। कारण कि साधुत्व भाव स्त्री और पुरुष दोनों में आ सकता है। इसलिये 'नमो

लोए सव्वसाहूणाण इस पद की आवश्यकता नहीं है। यदि लिंग विशेष को ही ग्रहण करना है तब तो फिर नपुंसक लिंग वाले जीव भी सिद्ध पद ग्रहण कर सकते हैं वा करते हैं तब उनके लिये 'नमो लोए सव्वनपुंसगसाहूणं' इस प्रकार एक और नूतन सूत्र की रचना करनी चाहिए। जब इस प्रकार माना जायगा तब प्रत्येक व्यक्ति के लिये पृथक् सूत्र की रचना करनी चाहिए। अत यह ठीक नहीं है किन्तु साधुत्व पद सब में सामान्य रूप से रहता है, इसलिये 'नमो लोए सव्वसाहूण' यही पद ठीक है। इस पद से अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य और उपाध्याय तथा अन्य यावन्मात्र प्रवर्त्तकादि की उपाधियां हैं, उन के भी अतिरिक्त जो सामान्य साधु वा आर्यायें हैं, उन सब का ग्रहण किया गया है तथा आचार्य वा उपाध्याय--इन दो विशेष उपाधियों को छोड़कर शेष सभी उपाधिया साधुत्व भाव में ली गई हैं, इसलिए भी 'नमो लोए सव्वसाहूणं' यही पद ठीक है।

शिष्य—जब सिद्ध पद आठ कर्मों से रहित है और अर्हन्त पद चार कर्मों से युक्त है तो फिर पहले 'नमो सिद्धाण' यह पद चाहिए था तदनन्तर 'नमो अरिहंताणं' यह पद ठीक था?

गुरु—हे शिष्य! सब से पहले उपकारी को नमस्कार किया जाता है अत चार कर्मों से युक्त होने पर भी सब से प्रथम अर्हन्तों को नमस्कार करना युक्तियुक्त है। कारण कि केवल ज्ञान के होने से वे भव्यजीवों के तारने के लिये स्थान २ पर उपदेश देते हैं, वह उपदेश भव्य प्राणियों के लिये श्रुत ज्ञान होता है, श्रुत ज्ञान ही अन्य सब ज्ञानों से बढ़ कर परो-

पकारी माना गया है अतः उक्त पद युक्तियुक्त है।

शिष्य—हे भगवन्! जब इस प्रकार से है तब तो मात्र पद आचार्य उपाध्याय और साधु ही उपदेशों द्वारा स्थान २ पर उपदेश करते हैं इसलिये सब से पहले 'नमो लोए सव्वसाहूणं' यह पद होना चाहिए था?

गुरु—हे शिष्य! आचार्य उपाध्याय और साधु-ये तीनों पद पदार्थों के स्वयं उपान्त नहीं हैं, किन्तु श्रीभगवान् के कथन किये हुए पदार्थों के उपदेश (प्रचारक) हैं। इसलिये सब से पहले 'नमो अरिहंताणं' यही पद पढ़ना युक्तिसंगत है।

शिष्य—हे भगवन्! हिंसा झूठ, चोरी मैथुन और परिग्रह इन पांच आस्रवों के करते समय जो आत्म प्रदेशों पर परमाणु पुद्गल सम्बन्ध करते हैं वे अनन्त प्रदेशी स्कन्धरूपी हैं या अरूपी?

गुरु—हे शिष्य! पांच आस्रवों के आसेवन करते समय जो आत्म प्रदेशों पर कर्म वर्गणाओं का सम्बन्ध होता है वे कर्म वर्गणाओं के अनंत प्रदेशी परमाणुओं के स्कन्ध रूपी होते हैं न तु अरूपी।

शिष्य—हे भगवन्! रूपी किसे कहते हैं? और अरूपी किसे कहते हैं?

गुरु—हे शिष्य! जिसमें पुद्गलास्ति काय का सम्बन्ध हो वा केवल पुद्गल हो उसी को रूपी कहते हैं। क्योंकि रूपी कथन करने का वास्तव में यही मन्तव्य है कि जिस वस्तु में वर्ण रस गन्ध और स्पर्श हो उसी को रूपी कहते हैं। यह पांच आस्रवों से प्राप्त हुए पुद्गल चतुः स्पर्श वाले होते हैं इसलिये उनको रूपी माना गया है।

शिष्य—हे भगवन्! उन पुद्गल स्कंधों में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श कितने कितने होते है?

गुरु—हे शिष्य! उन कर्म वर्गणाओं के परमाणुओं में पाच वर्ण, पाच रस, दो गध और चार स्पर्श होते हैं।

शिष्य—हे भगवन्! उनके नाम बतलाओ।

गुरु—हे शिष्य! सुनो। पांच वर्ण (काला, पीला, लाल, हरा और श्वेत), पाच रस (कटुक, कसाय, तीक्ष्ण, खट्टा और मधुर), दो गध (सुगंध और दुर्गन्ध), चार स्पर्श (स्निग्ध, रुक्ष, शीत, उष्ण) हैं।

शिष्य—हे भगवन्! क्रोध, मान, माया लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, रति, अरति, माया, मृषा, तथा मिथ्या दर्शन आदि पापों के करते समय आत्मा के साथ किस वर्णादि वाले परमाणुओं का सम्बन्ध होता है?

गुरु—हे शिष्य! अठारह प्रकार के पापों के करते समय आत्म प्रदेशों के साथ पाच वर्ण, पांच रस, दो गंध और चार स्पर्श वाले परमाणुओं का बंध होता है। कारण कि वे अत्यन्त सूक्ष्म स्कंध होते हैं।

शिष्य—हे भगवन्! जब अठारह प्रकार के पापों से निवृत्ति की जाती है, उस समय आत्मा के साथ किस प्रकार के परमाणुओं का वन्ध होता है?

गुरु—हे शिष्य! निवृत्ति करते समय जीवोपयोग स्वरूप

---

१ अहेत्यादि—'अवण्णेत्ति' वधादिविरमणानि जीवोपयोगस्वरूपाणि जीवोपयोगश्चामूर्त्तोऽमूर्त्तत्वाच्च तस्य वधादि विरमणानाममूर्त्तत्व तस्माच्चावर्णादित्वमिति।

निजस्वरूप में होता है। वह अमूर्त है इस कारण यथावि निवृत्ति के भाव भी अमूर्त सिद्ध हुए। इसलिये परमाणुओं का बन्ध नहीं हो सका। जब बन्ध नहीं हुआ, तब अठारह पापों की निवृत्ति के भाव वर्ण रस गंध और स्पर्श से रहित ही सिद्ध हुए। इसलिये अठारह पापों की निवृत्ति अवर्ण, अरस अगन्ध और अस्पर्श वाली कथन की गई है।

शिष्य—हे भगवन्! औत्पत्तिकी वैनयिकी कर्मजा और पारिणामिकी—यह सब बुद्धि रूपी हैं या अरूपी?

गुरु—हे शिष्य! यह चारों प्रकार की बुद्धियाँ जीव गुण होने से अरूपी हैं। जिस प्रकार आत्मा अरूपी पदार्थ है, उसी प्रकार जीवादि के बुद्धि आदि गुण भी अरूपी हैं। जब अरूपी सिद्ध हैं तब उनमें पुद्गल का सम्बन्ध नितान्त नहीं माना जा सकता। कारण कि रूपी पदार्थ पुद्गल ही है अन्य कोई भी धर्मादि पदार्थ रूपी नहीं हैं।

शिष्य—हे भगवन्! जिस प्रकार बुद्धि अरूपी कथन की गई है उसी प्रकार अवग्रह ईहा (अनाकारोपयोग) अवाय और धारणा (साकारोपयोग)—ये भी अरूपी हैं?

गुरु हे शिष्य! हाँ यह चारों भी जीव गुण होने से अरूपी हैं।

शिष्य—हे भगवन्! कृपा करके अवग्रह ईहा अवाय और धारणा—इन चारों का अर्थ बताइए, जिस से इनके अर्थ का बोध हो जाय।

गुरु—हे शिष्य! ध्यान देकर इनके अर्थ को सुनो। सामान्य ज्ञान को अवग्रह कहते हैं इस से विशिष्ट बोध का नाम ईहा

है, ईहा से विशिष्ट बोध का नाम अवाय है और अवाय से विशिष्ट ज्ञान का नाम धारणा है।

शिष्य—हे भगवन्! कोई दृष्टान्त देकर इनके अर्थ को स्पष्ट करके समझाइए।

गुरु—हे शिष्य! जिस प्रकार कोई व्यक्ति सोया हुआ है, जब कोई उसे शब्द द्वारा जागृत करता है, तब वह निद्रा के आवेश से शब्द को न पहचानता हुआ भी हुंकार करता है, इसी को अवग्रह कहते हैं। जब वह अवग्रह ज्ञान से ईहा ज्ञान में प्रविष्ट होता है तब वह शब्द की परीक्षा करता है कि यह शब्द किसका है? जब फिर वह ईहा से अवाय ज्ञान में जाता है तब वह 'यह अमुक व्यक्ति का शब्द है' इस प्रकार भली भांति जान लेता है। जब उसने शब्द को भली भाँति अवगत कर लिया तब फिर वह उस शब्द के ज्ञान को धारण करता है कि इसने किस कार्य के लिये मुझे जगाया है और वह अमुक कार्य मेरे अवश्य करणीय है। इसी का नाम धारणा है। अवग्रह और ईहा अनाकारोपयुक्त कहे जाते हैं। अवाय और धारणा साकारोपयुक्त कहे जाते हैं। अवग्रह और ईहा सामान्य बोध तथा अवाय और धारणा विशिष्ट बोध के नाम से कहे जाते हैं अथवा अवग्रह और ईहा दर्शन के नाम से तथा अवाय और धारणा ज्ञान के नाम से कहे जाते हैं। जीव गुण होने से ये सब अरूपी हैं।

शिष्य—हे भगवन्! उत्थान कर्म बल वीर्य और पुरुषार्थ-ये रूपी हैं वा अरूपी?

गुरु—हे शिष्य! जीव गुण होने से ये सब अरूपी है।

कारण कि पुरुषार्थ जीव का निज गुण है।

शिष्य—हे भगवन्! आकाश रूपी है या अरूपी?

गुरु—हे शिष्य! आकाश अरूपी है। कारण कि पुद्गलास्तिकाय ही केवल रूपी है शेष धर्म अधर्म काल और जीव द्रव्य सब अरूपी हैं।

शिष्य—हे भगवन्! घन वात (कठिन वायु), तनु वात (लघु वायु) घनोदधि और पृथिवी—इन में कितने वर्णादि होते हैं?

गुरु—हे शिष्य! घन वायु तनु वायु, घनोदधि तथा रत्नप्रभादि पृथिवियों में पांच वर्ण पांच रस दो गंध और आठ स्पर्श होते हैं।

शिष्य—हे भगवन्! आठ स्पर्श कौन कौन से हैं?

गुरु—हे शिष्य! १ शीत २ उष्ण ३ स्निग्ध ४ रूक्ष ५ मृदु ६ कठिन ७ लघु और ८ गुरु—ये आठ स्पर्श हैं।

शिष्य—नैरयिक में कितने वर्णादि हैं?

गुरु—हे शिष्य! यदि हम नैरयिक जीव के वैक्रिय और तैजस शरीर पर विचार करते हैं तब तो ५ वर्ण ५ रस २ गंध और ८ स्पर्श ही सिद्ध होते हैं। यदि हम कार्मण शरीर पर विचार करते हैं तब ५ वर्ण ५ रस २ गंध और ४ स्पर्श सिद्ध होते हैं। यदि हम जीव की ओर देखते हैं तब तो अवर्ण अरस अगन्ध और अस्पर्श सिद्ध होता है। कारण कि जीव पुद्गल से सर्वथा भिन्न है अतः अरूपी है। इसी प्रकार सब जीवों के विषय में जानना चाहिए। किन्तु औदारिक और आहारक शरीर में आठ ही स्पर्श जानने चाहियें।

शिष्य—हे भगवन्! १ ज्ञानावरणीय २ दर्शनावरणीय ३ वेदनीय ४ मोहनीय ५ आयुष ६ नाम ७ गोत्र और ८ अंतराय—इन कर्मों की मूल प्रकृतियों में कितने वर्णादि है?

गुरु—हे शिष्य! उक्त आठों प्रकार की कर्मों की मूल प्रकृतियों में पाच वर्ण, पांच रस, दो गंध और चार स्पर्श होते है।

शिष्य—हे भगवन्! जीव के कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, तेजो लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या—इन छः प्रकार के परिणामों में कितने वर्णादि होते हैं?

गुरु—हे शिष्य! कृष्णादि छओं द्रव्य लेश्याओं में ५ वर्ण ५ रस २ गध और ८ स्पर्श होते हैं। किन्तु जो छ भाव लेश्याएँ हैं वे अरूपी है, कारण कि वे जीव ही के परिणाम विशेष होते हैं। किन्तु जो कृष्णादि छः द्रव्य लेश्याएँ हैं, वे अनंत प्रदेशी स्थूल स्कंध होने से आठ स्पर्श वाली कथन की गई है। कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अशुभ लेश्याएँ हैं। तेजो, पद्म और शुक्ल—ये तीन शुभ लेश्याएँ है। पहली तीन अधर्म लेश्याएँ है और पिछली तीन शुभ लेश्याएँ हैं। पिछली तीनों को धर्म लेश्या भी कहते हैं। ये सब लेश्याएँ कर्म और योग के सम्बन्ध से ही जीव के परिणाम विशेष हैं।

शिष्य—हे भगवन्! सम्यग्दृष्टि १ मिथ्यादृष्टि २ मिश्रदृष्टि ३, चक्षुर्दर्शन १ अचक्षुर्दर्शन २ अवधिदर्शन ३ और केवलदर्शन ४, आभिनिवोधिक ज्ञान १ श्रुत ज्ञान २ अवधि ज्ञान ३ मन. पर्यवज्ञान ४ और केवल ज्ञान ५, मति अज्ञान १ श्रुत अज्ञान २ और विभग अज्ञान ३, आहार संज्ञा १ भय संज्ञा २ मैथुन

संज्ञा ३ और परिग्रह संज्ञा ४—ये सब रूपी हैं या अरूपी अर्थात् वर्णादि से युक्त हैं या रहित ?

गुरु—हे शिष्य ! सम्यग् दर्शनादि जो उक्त अंक हैं व सब जीव के परिणाम विशेष होने से अरूपी हैं। क्योंकि कर्म बन्ध सम्यग् विचारादि से नहीं होता अपितु राग द्वेष मय भावों द्वारा ही हो सकता है। अतः उक्त सब अंक अरूपी हैं।

शिष्य—हे भगवन् ! मन किसे कहते हैं और मन रूपी है या अरूपी ?

गुरु—हे शिष्य ! जिस में ईहा अवाय धारणा तथा अन्वय और व्यतिरेक विचारने की शक्ति हो अथवा प्रबल मनन शक्ति हो उसी को मन कहते हैं। और ये द्रव्य मन के परमाणुओं के स्कंध—५ वर्ण ५ रस २ गन्ध और ८ स्पर्श वाला होते हैं। अतः मन रूपी है नतु अरूपी। यदि शरीर शक्ति बलवती हो तो मनोशक्ति भी बढ़ जाती है, यदि निर्बल हो तब मनोशक्ति भी निर्बल हो जाती है। मन में अत्यन्त संकल्पों के संचार होने से भी मनोशक्ति निर्बल पड़ जाती है अतः मन को निरर्थक संकल्पों से निर्बल न बनाना चाहिए।

शिष्य—हे भगवन् ! वचन योग रूपी है या अरूपी ?

गुरु—हे शिष्य ! भाषा पर्याप्ति के कारण से वचन योग की प्रवृत्ति होती है। वचन योग के परमाणुओं के स्कंध अनंत प्रदेशी होने पर भी ५ वर्ण ५ रस २ गंध और ४ स्पर्श वाले होते हैं। अतः वचन योग का भी सम्यक्तया निरोध करना चाहिए, जिससे शीघ्र ही अध्यात्म योग की प्राप्ति हो जाय।

शिष्य—हे भगवन् ! काय योग रूपी है या अरूपी ?

गुरु—हे शिष्य ! काय योग के अनंत प्रदेशी स्कंध-५ वर्ण ५ रस २ गध और ८ स्पर्श वाले होते हैं। अत ये योग भी रूपी हैं।

शिष्य—हे भगवन् ! जब ज्ञानपूर्वक मनोयोग, वचन योग और काय योग का निरोध किया जाय, तब किस फल की प्राप्ति होती है ?

गुरु—हे शिष्य ! जब तीनों योगों का सम्यग् ज्ञानपूर्वक निरोध किया जाए तब आत्मा अयोगी होजाता है। अयोगी आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनंत (अक्षय) सुख और अनत शक्ति वाला होकर निर्वाण पद प्राप्त कर लेता है। अतः प्राणी को योग्य है कि वह पहले निरर्थक योगों का निरोध करने का अभ्यास करे फिर अशुभ योगों के निरोध करने का अभ्यास करे, तदनु शुभ योगों का निरोध करके उन योगों को ज्ञान और ध्येय में लीन कर देवे, तत्पश्चात् अयोग पद धारण करके सादि अनंत पद की प्राप्ति करे, जिससे ससारचक्र से विमुक्त होकर सदा निजस्वरूप में निमग्न होता हुआ परमात्म पद की प्राप्ति कर सके। सब आर्य सिद्धान्तों का यही निष्कर्ष है।

तब उक्त गुरु वाक्य सुनकर परम विनयी शिष्य गुरु आज्ञा के अनुसार उक्त क्रियाओं के करने में लग गया, जिससे निर्वाण पद की प्राप्ति हो सकती है।

बारहवाँ पाठ

(नीतिशास्त्रविषय)

प्रिय पाठको ! नीति शास्त्र के अध्ययन करने से सभ्यता और योग्यता की प्राप्ति होती है अतएव ये शास्त्र प्रत्येक व्यक्ति के पठन करने योग्य हैं। यद्यपि नीति शास्त्र के नाम पर कतिपय कुटिल नीति शास्त्रों की भी रचना हुई है किन्तु यह नीति सभ्य पुरुषों के लिए उपादेय नहीं है। भले ही कुटिल नीति से कतिपय कार्यों की सिद्धि भी हो जाती है किन्तु वह सिद्धि चिर स्थायिनी नहीं होती उसका अन्तिम परिणाम भी उत्तम नहीं निकलता। अतः सद् नीति द्वारा कार्य सिद्धि करना आर्य और सभ्य समाज का मुख्य कर्तव्य होना चाहिए।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि—जब नीति में दोनों प्रकार के उल्लेख मिलते हैं तो हमें भी दोनों प्रकार की नीतियों से ही काम लेना चाहिए। इस प्रश्न के समाधान में कहा जाता है कि यह ठीक है किन्तु सभ्य समाज को कुटिल नीति के आश्रित कदापि नहीं होना चाहिए। जैसे कि वैद्यक ग्रन्थों में सर्व प्रकार के मांसों का भी विधान पाया जाता है तो क्या फिर आर्य पुरुष आर्य औषध को छोड़कर मांस भक्षण करने लग जावें ? कदापि नहीं। इसी प्रकार कुटिल नीति के विषय में भी जानना चाहिए।

अब इस पाठ में "नीतिवाक्यामृत" नामक जैन नीति शास्त्र से कुछ सूत्र उद्धृत कर के उनकी हिन्दी की जाती है, जिससे विद्यार्थियों को नीतिशास्त्र का भी कुछ बोध होजाए।

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः १

अर्थ—जिससे स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है, वही धर्म है।

अधर्मः पुनरेतद्विपरीतफलः २

अर्थ—अधर्म उसका नाम है, जिससे स्वर्ग वा मोक्ष प्राप्त न हो सके अर्थात् धर्म से विपरीत अधर्म होता है।

आत्मवत् परत्र कुशलवृत्तिचिन्तनं शक्तितस्त्याग-तपसी च धर्माधिगमोपायाः ३

अर्थ—अपने आत्मा के समान पर को जानना, कुशल वृत्तियों का चिंतन करना, शक्ति के अनुसार दान करना और शक्ति के अनुसार ही तप करना—ये ही धर्म जानने के उपाय हैं।

सर्वसत्वेषु हि समता सर्वाचरणानां परमाचरणम् ४

अर्थ—प्राणिमात्र से निर्वैरता धारण करना—यही परमाचरण है।

न खलु भूतद्रुहां कापि क्रिया प्रसूते श्रेयांसि ५

अर्थ—जीवों की हिंसा करने वाली क्रिया कभी भी कल्याण उत्पन्न करने वाली नहीं होती। अत किसी भी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए।

भस्मनि हुतमिवापात्रेष्वर्थव्ययः ६

अर्थ—अपात्र में अर्थ व्यय (दान) करना ऐसा होता है, जैसा भस्म (राख) में हवन (होम)।

पात्रं च त्रिविधं धर्मपात्रं कार्यपात्रं कामपात्रं चेति ७

अर्थ—धर्मपात्र कामपात्र और कार्यपात्र—ये तीन प्रकार के पात्र होते हैं। धर्म कार्यों में अर्थ व्यय करना—उसे धर्म पात्र कहते हैं स्त्री आदि के लिये अर्थ व्यय करना उसी का नाम काम पात्र है और इस संसार के प्रयोजन सिद्ध करने के लिये अर्थ व्यय करना—उसी का नाम कार्य पात्र है।

स खलु लुब्धो यस्तु विनियोगादात्मना सह जन्मान्तरेषु नयत्यर्थम् ८

अर्थ—वास्तव में लोभी वही है जो सुपात्र में दान वितीर्ण करता है। क्योंकि वह दान परलोक में भी सुख प्रद होता है। अतः लोभी वही है जो जन्मान्तर के लिये भी ले गया। प्रत्युत जो लोभी है वह तो मर कर यहीं पर ही धन छोड़ गया वह लोभी कैसे?

सदैव दुःस्थितानां को नाम बन्धुः ९

अर्थ—सदैव दारिद्र्य से पराभूत व्यक्तियों का कौन बन्धु है? कोई भी नहीं।

इन्द्रियमनसोर्नियमानुष्ठानं तपः १०

अर्थ—इन्द्रिय और मन का निग्रह करना, ही वास्तव में तप है।

कालेन संचीयमानः परमाणुरपि जायते मेरुः ११

अर्थ—दिनरात्रि परमाणु २ एकत्र करते हुए उनकी मेरु समान राशि हो जाती है। इसी प्रकार पुण्य और पाप तथा विद्या सचय करते हुए वढ़ जाती है।

कण्ठगतैरपि प्राणैर्नाशुभं कर्म समाचरणीयं कुशलमतिभिः १२

अर्थ—वे ही व्यक्ति कुशल मति वाले हैं जो प्राणों के कण्ठ तक आजाने पर भी अशुभ कर्मों का आचरण नहीं करते।

खलसङ्गेन किं नाम न भवत्यनिष्टम् १३

अर्थ—दुष्टों के संग करने से किस अनिष्ट की प्राप्ति नहीं होती? अपितु सब प्रकार के अनिष्टों की प्राप्ति होजाती है।

अग्निरिव स्वाश्रयमेव दहन्ति दुर्जनाः १४

अर्थ—दुर्जन निज आश्रय को ही नाश करते हैं जैसे कि अग्नि जिस काष्ठ से उत्पन्न होता है उसी को ही दग्ध कर देता है।

यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः सोऽर्थः १५

अर्थ—जिससे सर्व प्रयोजन की सिद्धि हो वही अर्थ है अर्थात् धन द्वारा प्राय' समस्त सासारिक कार्यों की सिद्धि हो जाती है।

धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत ततः सुखी स्यात् १६

अर्थ—जो धर्म और अर्थ के अविरोध भाव से काम को सेवन करता है, वही सुखी होता है अर्थात् जो स्वदारा संतोष व्रत वाला होता है, वही जन सुखी है।

समं वा त्रिवर्गं सेवेत १७

अर्थ—धर्म अर्थ और काम—इन तीनों को सम भाव से सेवन करता हुआ दुःखी नहीं होता । तात्पर्य यह है कि—मर्यादा वाला गृहस्थ दुःखी नहीं हो सकता।

इन्द्रियमनःप्रसादनफला हि विभूतयः १८

अर्थ—विभूति का यही फल है जिससे इन्द्रिय और मन की प्रसन्नता रहे।

नाजितेन्द्रियाणां कापि कार्यसिद्धिरस्ति १९

अर्थ—जो पुरुष अजितेन्द्रिय हैं उनके किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं होती।

कामासक्तस्य नास्ति चिकित्सितम् २०

अर्थ—कामासक्त की कोई भी औषध नहीं है अर्थात् उसे कोई भी सुन्दर से सुन्दर उपदेश अच्छा नहीं लग सकता।

न तस्य धनं धर्मः शरीरं वा यस्यास्ति स्त्रीष्वत्यासक्तिः २१

अर्थ—कामासक्त व्यक्ति का धन धर्म और शरीर कुछ भी नहीं है। क्योंकि वह कामरूपी अग्नि में आसक्त हुआ धन धर्म और शरीर का हवन ही कर देता है।

योऽनुकूलप्रतिकूलयोरिन्द्रयमस्थानं स राजा २२

अर्थ—राजा वही होता है जो अनुकूल के लिए इन्द्र के समान और प्रतिकूल के लिए यम के समान हो।

राज्ञो हि दुष्टनिग्रहः शिष्टपरिपालनं च धर्मः २३

अर्थ—दुष्टों का निग्रह करना और शिष्टों का पालन करना यही राजाओं का धर्म है।

य उत्पन्नः पुनीते वशं स पुत्रः २४

अर्थ—जिसके उत्पन्न होने से वश पवित्र होता है वही पुत्र है अर्थात् जो कुल को पवित्र करता है वही पुत्र है। कुल की पवित्रता शुभाचरण से ही हो सकती है न तु कदाचार से।

यो विद्याविनीतमतिः स बुद्धिमान् २५

अर्थ—जिस की बुद्धि विद्या विनय सम्पन्न है वही बुद्धिमान् है अर्थात् जिसकी बुद्धि शास्त्रानुसार है वही बुद्धिमान् है।

अनधीतशास्त्रश्चक्षुष्मानपि पुमानन्ध एव २६

अर्थ—जिस पुरुष ने शास्त्र नहीं पढ़ा वह चक्षु होने पर भी अन्धा ही है अर्थात् सद् असद् बोध से विकल है।

नह्यज्ञानादपरः पशुरस्ति २७

अर्थ—अज्ञान से दूसरा कोई पशु नहीं है अर्थात् अज्ञानी पुरुष पशु के समान होता है।

वरमराजकं भुवन नतु मूर्खो राजा २८

अर्थ—जगत् राजा से विहीन अच्छा है किन्तु मूर्ख राजा होना अच्छा नहीं है, क्योंकि वह न्याय और अन्याय को समझता ही नहीं।

वरमज्ञानं नाशिष्टजनसेवया विद्या २९

अर्थ—अज्ञान ही अच्छा है किन्तु दुर्जन की सेवा से विद्या ग्रहण करनी अच्छी नहीं है कारण कि उसकी संगति से पंडित भी पापाचरण करने वाले होजाते हैं।

किम् तेनामृतेन यत्रास्ति विषसंसर्गः २०

अर्थ—उस अमृत से क्या ! जो विष से संमिश्रित हो अर्थात् विष संमिश्रित अमृत भी मारने में समर्थ होता है।

गुरुजनशीलमनुसरन्ति प्रायेण शिष्याः २१

अर्थ—शिष्य प्रायः गुरुजनों का ही अनुसरण करने वाले होते हैं।

नवेषु मृद्भाजनेषु लग्नः संस्कारो ब्रह्मणाऽप्यन्यथा कर्तुं न शक्यते २२

अर्थ—नूतन मिट्टी के भाजन में प्रथम लगे हुए संस्कार को फिर ब्रह्मा भी दूर नहीं कर सकता।

आत्ममनोमरुत्तत्त्वसमतायोगलक्षणो ह्यभ्यासयोगः २३

अर्थ—आत्मा मन शरीरस्थ वायु पृथिवी आदि तत्त्व—इन सब का सम होना ही अभ्यासयोग कहा जाता है।

क्रियातिशयविपाकहेतुरभ्यासः २४

अर्थ—प्रत्येक कार्य की सिद्धि में अभ्यास मुख्य है अर्थात् अभ्यास से सब कार्य सिद्ध हो जाते हैं।

तत्सुखमप्यसुखं यत्र नास्ति मनोनिर्वृत्तिः २५

अर्थ—वह सुख भी दुःख रूप है जिससे मनको शांति नहीं आती।

तद् दुःखमपि न दुःखं यत्र न संक्लिश्यते मनः २६

अर्थ—वह दुःख भी दुःख नहीं है जिसमें मन को संक्लेश नहीं होता।

अपराधकारिषु प्रशमो यतीनां भूषणं न महीपतीनाम् ३७

अर्थ—अपराध करने वालों पर क्षमा करना यतियों के लिए शोभाजनक है, राजाओं के लिए नहीं। अर्थात् अपराधियों को न्यायपूर्वक शिक्षित करना ही राजाओं का धर्म है न तु दयावश क्षमा करना।

धिक् तं पुरुषं यस्यात्मशक्त्या न स्तः कोपप्रसादौ ३८

अर्थ—उस पुरुष को धिक्कार है जो आत्म शक्ति के अनुसार कोप और प्रसन्नता को नहीं जानता। अर्थात् क्रोध और प्रसन्नता आत्म शक्ति के अनुसार किये जाने पर ही शोभाप्रद होते है।

विपदन्ता खलमैत्री ३९

अर्थ—दुष्टों की मैत्री कष्टों के देने वाली होती है।

अध्यापनं याजनं प्रतिग्रहो ब्राह्मणानामेव ४०

अर्थ—अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह—ये तीन कर्म ब्राह्मणों के ही हैं।

भूतसंरक्षणं शस्त्राजीवनं सत्पुरुषोपकारो दीनोद्धरणं रणेऽपलायनं चेति क्षत्रियाणाम् ४१

अर्थ—प्रजा की रक्षा करना, शस्त्र से जीवन निर्वाह करना, सज्जन पर उपकार करना, दीन और दुखियों की सहायता करना, संग्राम में न भागना—ये ही कर्म क्षत्रियों के हैं।

वार्ताजीवनमावेशिकपूजनं सत्रप्रपापुण्यारामदया-दानादिनिर्मापणं च विशाम् ४२

अर्थ—कृषिकर्म पशुपालन निष्कपट किया शक्ति के अनुसार अन्नदान करना (सदाव्रत) प्रपा (पानी के दान का स्थान) पुण्य क्रिया आराम (बाग) लगाना वा दयादानादि करना—ये ही कर्म वैश्यों के हैं।

त्रिवर्णोपजीवन कारुकुशीलवकर्म पुण्यपुटवाहनं च शूद्राणाम् ४३

अर्थ—ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा करना कारु कुशीलव कर्म तथा भिक्षुओं की सेवा करना—ये ही कर्म शूद्रों के हैं।

स किं राजा यो न रक्षति प्रजाः ४४

अर्थ—वह क्या राजा है जो प्रजा की रक्षा नहीं करता।

दानावसानः कोपो ब्राह्मणानाम् ४५

अर्थ—ब्राह्मणों का कोप दान पर्यन्त ही होता है।

प्रणामावसानः कोपो गुरूणाम् ४६

अर्थ—गुरुओं का कोप नमस्कार पर्यन्त ही होता है अर्थात् विनय पूर्वक नमस्कार करने पर गुरुओं का कोप शान्त हो जाता है।

प्राणावसानः कोपो क्षत्रियाणाम् ४७

अर्थ—क्षत्रियों (राजाओं) का कोप प्राण लेने पर्यन्त होता है।

प्रियवचनावसानः कोपो वणिग्जनानाम् ४८

अर्थ—व्यापारियों का कोप प्रियवचन बोलते ही शान्त हो जाता है।

वैश्यानां समुद्धारकप्रदानेन कोपोपशमः ४९

अर्थ—वैश्य जनों का कोप उधार देने से शान्त हो जाता है।

दण्डभयोपाधिभिर्वशीकरणं नीचजात्यानाम् ५०

अर्थ—नीच जाति वाले व्यक्तियों का कोप दंड और भय देने से शान्त हो जाता है।

न वणिग्भ्यः सन्ति परे पश्यतोहराः ५१

अर्थ—कूट तोल मापादि करने वाले वैश्यों से बढ़ कर कोई चोर नहीं है क्योंकि अन्य चोर तो परोक्ष में चोरी करते हैं, किन्तु ये प्रत्यक्ष में ही चोरी करते हैं।

चिकित्सागम इव दोपविशुद्धिहेतुर्दण्डः ५२

अर्थ—सन्निपातादि दोष की निवृत्ति के लिये जिस प्रकार वैद्यक शास्त्र है उसी प्रकार आत्मशुद्धि के लिये भी दण्ड विधि है।

नास्त्यविवेकात्परः प्राणिनां शत्रुः ५३

अर्थ—अविवेक से बढ़ कर प्राणियों का कोई शत्रु नहीं है।

बहुक्लेशेनाल्पफलः कार्यारम्भो महामूर्खाणाम् ५४

अर्थ—वे महामूर्ख हैं जो ऐसे काम को आरंभ करते हैं जिससे क्लेश तो बहुत हो और फल अल्प ही निकले।

दोपभयान्न कार्यारम्भः कापुरुषाणाम् ५५

अर्थ—वे कातर पुरुष हैं जो दोषों के भय से कार्य आरंभ ही नहीं करते।

मृगाः सन्तीति किं कृषिर्न क्रियते ५६

अर्थ—क्या मृगों के भय से कृषक लोग खेती नहीं करते ?

अजीर्णभयात् किं भोजनं परित्यज्यते ५७

अर्थ—क्या अजीर्ण के भय से भोजन का परित्याग किया जा सकता है ?

प्रियंवदः शिखीव द्विषत्सर्पानुच्छादयति ५८

अर्थ—जिस प्रकार मोर के शब्द से सर्प भाग जाते हैं उसी प्रकार प्रिय भाषण से शत्रु भाग जाते हैं।

दुरारोहपादप इव दण्डाभियोगेन फलप्रदो भवति नीचप्रकृतिः ५९

अर्थ—दुरारोह वृक्ष जिस प्रकार दण्ड लगने से ही फल देता है उसी प्रकार नीच प्रकृति वाले पुरुष भी दंड से वश होते हैं।

स महान् यो विपत्सु धैर्यमवलम्बते ६०

अर्थ—वही बड़ा है जो विपत्ति काल में धैर्य अवलम्बन करता है।

उत्तापकत्वं हि सर्वकार्येषु सिद्धीनां प्रथमोऽन्तरायः ६१

अर्थ—चित्त की व्याकुलता ही सर्व कार्यों की सिद्धि में पहला अन्तराय है अर्थात् सब से बढ़ कर चित्त की व्याकुलता ही कार्य सिद्धि में बड़ा विघ्न है।

न स्वभावेन किमपि वस्तु सुन्दरमसुन्दरं वा यस्य यदेव प्रतिभाति तस्य तदेव सुन्दरम् ६२

अर्थ--स्वभाव से न कोई वस्तु सुन्दर है न असुन्दर किन्तु जिसको जो पदार्थ अच्छा लगता है उसके लिये वही पदार्थ सुन्दर है।

परस्परं मर्मकथनमात्मविक्रम एव ६३

अर्थ--परस्पर मर्म कथन करना ही कलह का फल है।

क्षणिकचित्तः किञ्चिदपि न साधयति ६४

अर्थ--क्षणिक चित्त वाला कोई भी कार्य सिद्ध नहीं कर सकता।

स्वतन्त्रः सहसाकारित्वात् सर्वं विनाशयति ६५

अर्थ--स्वतंत्र व्यक्ति बिना विचारे काम करनेसे सब कुछ नष्ट कर देता है।

अलसः सर्वकर्मणामनधिकारी ६६

अर्थ--आलसी सब कामों के अयोग्य होता है।

प्रमादवान् भवत्यवश्यं विद्विषां वशः ६७

अर्थ- प्रमाद युक्त व्यक्ति अवश्य वैरियों के वश पड़ जाता है।

कालमलभमानोऽपकर्तरि साधु वर्त्तेत ६८

अर्थ--जब तक ठीक मौका नहीं मिलता तब तक शत्रु के साथ भले प्रकार से वर्त्तना चाहिए।

किन्तु खलु लोको न वहति मूर्ध्ना दग्धुमिन्धनम् ६९

अर्थ--क्या लोग इन्धन को जलाने के लिये शिर पर नहीं उठाते हैं? अवश्य उठाते हैं।

उत्सेको हस्तगतमपि कार्यं विनाशयति ७०

अर्थ—अहंकारी पुरुष हस्तगत हुए कार्य को भी नष्ट कर देता है।

युक्तमुक्तं वाचो बालादपि गृह्णीयात् ७१

अर्थ—यदि बालक भी युक्तियुक्त वचन कहे तो उन्हें भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

रवेरविषये किम दीपः प्रकाशयति ७२

अर्थ—क्या सूर्य के अस्त होजाने पर दीपक प्रकाश नहीं करता? अवश्य करता है।

विध्यायतः प्रदीपस्येव नयहीनस्य बुद्धिः ७३

अर्थ—अन्याय से उत्पथ किये हुए मन वाले की बुद्धि बुझते हुए दीपक की भांति जाननी चाहिए।

नाविचार्य किमपि कार्यं कुर्यात् ७४

अर्थ—बिना विचारे कोई भी कार्य न करना चाहिए।

धार्मिकः कुलाचाराभिजनविशुद्धः प्रतापवान्नयानुगत वृत्तिश्च स्वामी ७५

अर्थ—धार्मिक, कुलीन सदाचारी प्रतापी और न्याय वृत्ति वाला स्वामी हो सकता है।

कोपप्रसादयोः स्वतंत्रता आत्मातिशयवर्द्धनं वा यस्यास्ति स स्वामी ७६

अर्थ—कोप और प्रसाद में स्वतंत्रता और आत्मा का अतिशय जिसका बढ़ रहा हो वही स्वामी हो सकता है।

पराधीनेषु नास्ति शर्मसंपत्तिः ७७

अर्थ—पराधीन पुरुषों के सुख और संपत्ति नहीं ठहर सकती।

मार्जारेषु दुग्धरक्षणमिव नियोगेषु विश्वासकरणम् ७८

अर्थ—जिस प्रकार दुग्ध की रक्षा के लिये रखे हुए मार्जार दुग्ध की भली प्रकार रक्षा नहीं कर सकते ठीक उसी प्रकार नियोगियों के विषय में भी (गुमास्ते आदि) जानना चाहिए अर्थात् वे मार्जारवत् होते हैं।

कोशो हि भूपतीनां जीवितं न प्राणाः ७९

कोशो राजेत्युच्यते न भूपतीनां शरीरम् ८०

यस्य हस्ते द्रव्यं स जयति ८१

अर्थ—राजाओं का जीवन कोष ही होता है नतु प्राण। कोष ही राजा कहा जाता है नतु राजाओं का शरीर राजा। जिस के हाथ में धन होता है, उसी की जय होती है।

यः सम्पदीव विपद्यपि मेद्यति तन्मित्रम् ८२

अर्थ—जो संपत् दशा के समान ही विपत्ति काल में स्नेह करता है, वास्तव में वही मित्र है।

यः कारणमन्तरेण रक्ष्यो रक्षको वा भवति तन्नित्यं मित्रम् ८३

अर्थ—जो कारण के विना ही रक्षा करता है वह नित्य मित्र होता है। जो सम्बन्धि होते हैं वे सहज मित्र होते हैं। जो अपने स्वार्थ के लिये मित्रता रखता हो वह कृत्रिम मित्र

व्यसनेषूपस्थानमर्थेष्वविकल्पः स्त्रीषु परमं शौचं कोप प्रसादविषये चाप्रतिपक्षत्वमिति मित्रगुणाः ८४

अर्थ—कष्ट में बिना बुलाये उपस्थित हो जाना धन की इच्छा न रखना स्त्री विषय में परमशौच वृत्ति वाला होना कोप के समय प्रसन्नता की इच्छा नहीं रखना-ये ही मित्र के गुण हैं।

स्त्रीसंगतिर्विवादोऽभीक्ष्णयाचनमप्रदानमर्थसम्बन्धः परोक्षदोषग्रहणं पैशुन्याकर्णनं च मैत्रीभेदकारणानि ८५

अर्थ—मित्र की स्त्री से संसर्ग मित्र से विवाद मित्र से पुनः २ याचना करना मित्र को न देना धन से ही सम्बन्ध रखना मित्र के परोक्ष में मित्र की निन्दा सुनना अथवा चुगली करना ये—मित्रता के भेद के कारण हैं।

न क्षीरात्परं महदस्ति यत्संगतिमात्रेण करोति नीरमात्मसमम् ८६

अर्थ—दुग्ध से अन्य कोई बड़ा मित्र नहीं जो संगतिमात्र से ही जल को अपने समान कर लेता है।

न नीरात्परं महदस्ति यन्मिलितमेव संवर्धयति रक्षति च स्वक्षयेण क्षीरम् ८७

अर्थ—जल से भी कोई और बड़ा नहीं है जो दुग्ध के साथ मिलते ही दुग्ध की वृद्धि करता है और अपने क्षय से दुग्ध की रक्षा करता है।

कलत्रं रूपवत् सुभगमनवद्याचारमपत्यवदिति महतः पुण्यस्य फलम् ८८

अर्थ—रूपवती, सौभाग्यशालिनी, सदाचारिणी (पतिव्रता) और पुत्रवती स्त्री महान् पुण्य का फल है।

न खलु कपिः शिक्षाशतेनापि चापल्यं परिहरति ८९

अर्थ—सैकड़ों शिक्षाओं से भी बन्दर अपनी चपलता नहीं छोड़ता।

अव्यायामशीलेषु कुतोऽग्निदीपनमुत्साहो देहदार्ढ्यं च ९०

अर्थ—जो व्यायामशील नहीं हैं, उन के अग्नि दीपन, आत्मिक उत्साह, और शरीर की दृढ़ता कहां से उत्पन्न हो सकते हैं।

लोभप्रमादविश्वासैर्बृहस्पतिपुरुषो बध्यते वञ्चयते वा ९१

अर्थ—लोभ, प्रमाद और विश्वास से बृहस्पति के समान पुरुष भी बंधा जाता है वा छला जाता है।

आर्तः सर्वोऽपि भवति धर्मबुद्धिः ९२

अर्थ—व्याधि वाले सब ही धर्म बुद्धि वाले बन जाते हैं।

व्याधिग्रस्तस्य ऋते धैर्यान्न परमौषधमस्ति ९३

अर्थ—रोगी को धैर्य के सिवाय अन्य कोई परम औषध नहीं है।

स महाभागो यस्य न दुरपवादोहतं जन्म ९४

अर्थ—वह महाभाग वाला है, जिस का जन्म कलङ्कित नहीं हुआ।

न भयेषु विषादः प्रतीकारः किन्तु धैर्यावलम्बनम् ९५

अर्थ—भय के समय चित्त का विषाद उपकारक नहीं होता किन्तु धैर्य धारण करना ही उपकारक होता है।

शत्रुणापि सूक्तमुक्तं न दूषयितव्यम् ९६

अर्थ—शत्रुओं के भी शुभ वचन कहे हुए दूषित न करने चाहियें।

स किं पुरुषो योऽकिंचनः सन् करोति विषयाभिलाषम् ९७

अर्थ—वह क्या पुरुष है जो सर्वथा धनहीन होने पर विषयाभिलाष करता है।

न ते मृता येषामिहास्ति शाश्वती कीर्त्तिः ९८

अर्थ—वे मृत नहीं जानने चाहियें, जिन की शाश्वती कीर्ति इस जगत् में विद्यमान है।

स्त्रीपरावश्य मर्त्यस्थानि माता कलत्रमप्राप्तव्यवहाराणि चापत्यानि ९९

अर्थ—माता स्त्री और बाल सन्तान—ये तीन अवश्य भरण करने योग्य होते हैं।

स किं प्रभुर्यः कार्यकाले एव न सम्भावयति भृत्यान् १००

अर्थ—वह क्या प्रभु है जो काम के समय अपने भृत्यों को प्रसन्न नहीं करता।

स किं भृत्यः सखा वा यः कार्यमुद्दिश्यार्थं याचते १०१

अर्थ—वह क्या भृत्य और सखा है जो कार्य के समय धन याचना से नहीं हटता।

पार्थेन प्रणयिनी करोति चाङ्गाकृष्टिं सा किं भार्या १०२

अर्थ-जिस स्त्री का पति से केवल धन और विषय के उद्देश से ही प्रेम है, वह भार्या ही क्या है।

स किं देशो यत्र नास्त्यात्मनो वृत्तिः १०३

अर्थ--वह देश ही क्या है, जहां पर आत्मवृत्ति नहीं है।

स किं बन्धुः यो व्यसने नोपतिष्ठते १०४

अर्थ—वह भाई क्या है जो कष्ट के समय सहायक नहीं होता।

तत्किं मित्रं यत्र नास्ति विश्वासः १०५

अर्थ—वह मित्र ही क्या है जिस पर विश्वास नहीं है।

स किं गृहस्थो यस्य नास्ति सत्कलत्रसंपत्तिः १०६

अर्थ—जिस गृह में आज्ञाकारिणी और पतिव्रता स्त्री नहीं है, वह गृहस्थ क्या है।

तत् किं दानं यत्र नास्ति सत्कारः १०७

अर्थ— वह दान ही क्या है, जहां पर सत्कार नहीं है।

तत् किं भुक्तं यत्र नास्त्यतिथिसंविभागः १०८

अर्थ—वह खाना ही क्या है जहां पर अतिथि संविभाग (अतिथि सत्कार) नहीं किया जाता।

तत् किं प्रेम यत्र कार्यवशात् प्रत्यावृत्तिः १०९

अर्थ—वह प्रेम ही क्या है जो किसी कार्य के वश होकर किया जाता है। अर्थात् प्रेम गुण से नहीं अपितु कार्य से है।

तत् किमपत्यं यत्र नाऽध्ययन विनयो वा ११०

अर्थ—वह अपत्य ही क्या है जो न तो विद्वान् है और न विनयशील ही है।

सत्किं ज्ञानं यत्र मदेनान्धता चित्तस्य १११

अर्थ—वह ज्ञान ही क्या है जिसके पढ़ने से चित्त को मद से आकुलता हो जाय।

सत्किं सौजन्यं यत्र परोक्षे पिशुनभावः ११२

अर्थ—वह सज्जनता ही क्या है जिसमें परोक्ष में चुगली की जाती है।

सा किं श्रीयया न सन्तोषः सत्पुरुषाणाम् ११३

अर्थ—वह लक्ष्मी क्या है जिस की प्राप्ति में संतोष नहीं होता अर्थात् लालच से और भी दुःख होता है।

सत्किं कृत्यं यत्रोपक्रियमकृतस्य ११४

अर्थ—वह उपकार ही क्या जिसके फल की चाह रहे। अर्थात् जिस पर उपकार किया गया उसी से उसके फल की चाह रखी जावे तो फिर वह उपकार ही क्या है।

उपकृत्य मूकभावोऽभिजातीनाम् ११५

अर्थ—कुलीन पुरुष उपकार करके मूक होजाते हैं।

परदोषश्रवणे बधिरभावः सत्पुरुषाणाम् ११६

अर्थ—परदोष श्रवण करने में सत्पुरुषों का बधिर भाव होता है।

परकलत्रदर्शने अन्धभावो महाभाग्यानाम् ११७

अर्थ—पर स्त्री के दर्शन करने में महाभाग्यवानों का अन्ध भाव होता है। अर्थात् महाभाग्यवान् वही हैं जो पर स्त्री को काम दृष्टि से नहीं देखते।

चणका इव नीचा उदरस्थापिता अपि नाविकुर्वाणा-स्तिष्ठन्ति ११८

अर्थ—नीच पुरुष चनों की तरह उदर में स्थापन किये जाने पर विकार किये विना नहीं ठहरते। अर्थात् जिस प्रकार चने उदर में जाने पर विकार उत्पन्न किये विना नहीं रहते उसी प्रकार नीच पुरुष कतिपय उपकार किये जाने पर भी विकार किये विना नहीं रहते।

तत्सौभाग्यं यत्रादानेन वशीकरणम् ११६

अर्थ—सौभाग्य वही है जिसमें दान से अन्य आत्माओं को वश किया जाए।

सा सभारण्यानी यस्यां न सन्ति विद्वांसः १२०

अर्थ—वह सभा अरण्य के समान है जिसमें विद्वान् नहीं हैं अर्थात्—सभा वही होती है जिसमें विद्वानों का समागम हो। क्योंकि जब सभा में विद्वानों का समागम होता है तब तत्त्व पदार्थों का निर्णय भली भांति हो जाता है। यदि मूर्ख मंडल एकत्रित होजाए तब परस्परविवाद और वैमनस्य भाव उत्पन्न होता है। अत सभा वही कही जा सकती है जिस में विद्वान् वर्ग उपस्थित हो।

नीति शास्त्र में अनेक प्रकार के अमूल्य शिक्षाप्रद रत्न भरे पड़े हैं, विद्यार्थियों को योग्य है कि वे नीति शास्त्रों का स्वाध्याय

करें जिससे उनको उन शिक्षा मद अमूल्य रत्नों की प्राप्ति हो जाए। इस पाठ में तो केवल नीति शास्त्रों के वचनों का दिग्दर्शन ही कराया गया है। यदि नीति शास्त्रोक्त शिक्षायें धर्म नीति पूर्वक व्यवहार में लाई जावें तो आत्मा निज और पर के कल्याण करने वाला हो जाता है जिससे वह प्रसन्नता पूर्वक निर्वाणाधिकारी भी हो जाता है।

तेरहवाँ पाठ

(शिक्षा विषय)

प्रिय पाठको ! मनुष्य का जीवन शिक्षा पर ही निर्भर है। प्रायः जिस प्रकार की शिक्षा मनुष्य को मिलती है उसका जन्म उसी ढाँचे में ढल जाता है। इसी लिए धार्मिक पाठ-शालाओं की अत्यन्त आवश्यकता है जिनसे धार्मिक शिक्षाएँ उपलब्ध हो सकें। आधुनिक शिक्षाएँ त्याग के स्थान पर स्वच्छन्दता की ओर विशेषतया ले जाती हैं इसी लिए देश की दशा विचारणीय हो रही है। जब देश अपनी निज स्थिति पर नहीं रहा तो फिर धर्म विषय का कहना ही क्या है ? अत. प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपने जीवन को धार्मिक शिक्षाओं से विभूषित करने की चेष्टा करे।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि धार्मिक शिक्षा किसे कहते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि धार्मिक शिक्षाएँ उनका नाम है जिन से न्याय पूर्वक बर्ताव किया जाए। अत ये धार्मिक शिक्षाएँ साधु धर्म और गृहस्थ धर्म दोनों से सम्बन्ध रखती हैं। अतः अपने अपने धर्मानुकूल दोनों के लिये वे शिक्षाएँ उपादेय हैं।

अब विद्यार्थियों के लिये इस पाठ में-सस्ता साहित्य प्रकाशक मंडल अजमेर से मुद्रित "तामिल वेद" नामक पुस्तक

से कुछ शिक्षायें उद्धृत की जाती हैं।

संसारत्यागी पुरुषों की महिमा

१ देखो जिन लोगों ने सब कुछ त्याग दिया है और जो तपस्वी जीवन व्यतीत करते हैं धर्म शास्त्र उनकी महिमा को और सब बातों से अधिक उत्कृष्ट बताते हैं।

२ तुम तपस्वी लोगों की महिमा को नहीं नाप सकते। यह काम उतना ही कठिन है जितना सब मुर्दों की गणना करना।

३ देखो जिन लोगों ने परलोक के साथ इहलोक का मुकाबला करने के बाद इसे त्याग दिया है उन की ही महिमा से यह पृथ्वी जगमगा रही है।

४ देखो जो पुरुष अपनी सुदृढ़ इच्छा शक्ति के द्वारा अपनी पाँचों इन्द्रियों को इस तरह वश में रखता है जिस तरह हाथी अंकुश द्वारा वशीभूत किया जाता है वास्तव में वही स्वर्ग के खेतों में बोने योग्य बीज है।

५ जितेन्द्रिय पुरुष की शक्ति का साक्षी स्वयं देवराज इन्द्र है।

६ महापुरुष वही हैं जो असंभव कार्यों का संपादन करते हैं। और दुर्बल मनुष्य वे हैं, जिनसे वे काम हो नहीं सकते।

७ देखो जो मनुष्य शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध–इन पाँच इन्द्रिय विषयों का यथोचित मूल्य समझता है वह सारे संसार पर शासन करेगा।

८ संसार भर के धर्म ग्रंथ सत्य वक्ता महात्माओं की महिमा की घोषणा करते हैं।

९ त्याग की चट्टान पर खड़े हुए महात्माओं के क्रोध को एक क्षण भर भी सह लेना असंभव है।

१० साधु प्रकृति पुरुषों ही को ब्राह्मण कहना चाहिए। यही लोग सब प्राणियों पर दया रखते हैं।

धर्म की महिमा का वर्णन

१ धर्म से मनुष्य को मोक्ष मिलता है और उससे धर्म की प्राप्ति भी होती है, फिर भला धर्म से बढ़ कर लाभ दायक वस्तु और क्या है।

२ धर्म से बढ़ कर दूसरी और कोई नेकी नहीं और उसे भुला देने से बढ़ कर दूसरी कोई बुराई भी नहीं है।

३ नेक काम करने में तुम लगातार लगे रहो अपनी पूरी शक्ति और सब प्रकार से पूरे उत्साह के साथ उन्हें करते रहो।

४ अपना मन पवित्र रक्खो धर्म का समस्त सार बस एक ही उपदेश में समाया हुआ है। बाकी और सब बातें कुछ नहीं, केवल शब्दाडम्बर मात्र है।

५ ईर्ष्या, लालच, क्रोध और अप्रिय वचन—इन सब से दूर रहो, धर्म प्राप्ति का यही मार्ग है।

६ यह मत सोचो कि—मैं धीरे धीरे धर्म मार्ग का अवलम्बन करूंगा बल्कि अभी बिना देर लगाये ही नेक काम करना शुरू कर दो। क्योंकि धर्म ही वह वस्तु है जो मौत के दिन तुम्हारा साथ देने वाला अमर मित्र होगा।

७ मुझ से यह मत पूछो कि धर्म से क्या लाभ है ? बस एक बार पालकी उठाने वाले कहारों की ओर देखलो और फिर उस आदमी को देखो जो उसमें सवार हो।

८ अगर तुम एक भी दिन स्वार्थ नष्ट किये बिना समस्त जीवन में नेक काम करते हो तो तुम आगामी जन्मों का मार्ग बन्द किये देते हो।

९ केवल अर्जित सुख ही वास्तविक सुख है बाकी सब तो पीड़ा और लज्जा मात्र है।

१० जो कार्य धर्म संगत है बस वही कार्यरूप में परिणत करने योग्य है। दूसरी जितनी बातें धर्म विरुद्ध हैं उनसे दूर रहना चाहिए।

प्रेम

१ ऐसा डेरा अथवा डंडा कहां है ? जो प्रेम के दरवाजे को बन्द कर सके। प्रेमियों की आंखों के सुकोमल अश्रु-बिन्दु अवश्य ही उस उपस्थिति की घोषणा किये बिना न रहेंगे।

२ जो प्रेम नहीं करते वे सिर्फ अपने ही लिये जीते हैं मगर वे जो दूसरों को प्यार करते हैं उन की हड्डियाँ भी दूसरों के काम आती हैं।

३ कहते हैं कि प्रेम का मजा चखने के ही लिये आत्मा एक बार फिर अस्थिपिंजर में बंद होने को राजी हुआ है।

४ प्रेम से हृदय स्निग्ध हो जाता है और उस कोमलशीलता से ही मित्रता रूपी बहुमूल्य रत्न पैदा होता है।

५ लोगों का कहना है कि भाग्यशाली का सौभाग्य इस लोक और परलोक दोनों स्थानों में उस के निरन्तर प्रेम का ही पारितोषिक है।

६ वे मूर्ख हैं जो कहते हैं कि प्रेम

के लिये है। क्योंकि बुरों के विरुद्ध खड़े होने के लिये भी प्रेम ही मनुष्य का एकमात्र साथी है।

७ देखो अस्थिहीन कीड़े को सूर्य किस तरह जला देता है ठीक उसी तरह नेकी उस मनुष्य को जला डालती है जो प्रेम नहीं करता।

८ जो मनुष्य प्रेम नहीं करता वह तभी फूले फलेगा जब मरुभूमि के सूखे हुए वृक्ष के ठुण्ठ में कोपलें निकलेंगी।

९ बाह्य सौन्दर्य किस काम का जब कि प्रेम, जो आत्मा का भूषण है, हृदय में न हो।

१० प्रेम जीवन का प्राण है। जिस में प्रेम नहीं, वह केवल मास से घिरी हुई हड्डियों का ढेर है।

मृदु भाषण

१ सत्पुरुषों की वाणी ही वास्तव में सुस्निग्ध होती है क्योंकि वह दयार्द्र कोमल बनावट से खाली होती है।

२ औदार्यमय दान से भी बढ़कर सुन्दर गुण वाणी की मधुरता और दृष्टि की स्निग्धता तथा स्नेहार्द्रता में है।

३ हृदय से निकली हुई मधुर वाणी और ममतामयी स्निग्ध दृष्टि के अन्दर ही धर्म का निवास स्थान है।

४ देखो जो मनुष्य सदा ऐसी वाणी बोलता है कि जो सब के हृदय को आल्हादित कर दे उसके पास दुःखों की अभिवृद्धि करने वाली दरिद्रता कभी न आयेगी ?

५ नम्रता और स्नेहार्द्र वक्तृता बस केवल ये ही मनुष्य के आभूषण हैं और कोई नहीं।

६ यदि तुम्हारे विचार शुद्ध और पवित्र हैं और तुम्हारी वाणी में सहृदयता है तो तुम्हारी पापवृत्ति का क्षय हो जायगा और धर्मशीलता की अभिवृद्धि होगी।

७ सेवाभाव को प्रदर्शित करने वाला और विनम्र वचन मित्र बनाता है और बहुत से लाभ पहुंचाता है।

८ वे शब्द जो कि सहृदयता से पूर्ण और क्षुद्रता से रहित होते हैं इहलोक और परलोक दोनों ही जगह लाभ पहुंचाते हैं।

९ श्रुति प्रिय शब्दों के अन्दर जो मधुरता है उस का अनुभव कर लेने के बाद भी मनुष्य क्रूर शब्दों का व्यवहार करना क्यों नहीं छोड़ता।

१० मीठे शब्दों के रहते हुए भी जो मनुष्य कडुवे शब्दों का प्रयोग करता है वह मानो पके फल को छोड़कर कच्चा फल खाना पसन्द करता है।

कृतज्ञता

१ एहसान करने के विचार से रहित होकर जो दया दिखलाई जाती है स्वर्ग मर्त्य दोनों मिलकर भी उसका बदला नहीं चुका सकते।

२ जरूरत के वक्त जो मेहरबानी की जाती है वह देखने में छोटी भले ही हो मगर वह तमाम दुनिया से ज्यादा वजनदार है।

३ बदले का ख्याल को छोड़कर जो भलाई की जाती है वह समुद्र से भी अधिक बलवती है।

४ किसी से प्राप्त किया हुआ लाभ राई की तरह छोटा

क्यों न हो किन्तु समझदार आदमी की दृष्टि में वह ताड़ के वृक्ष के बराबर है।

५ कृतज्ञता की सीमा किये हुए उपकार पर अवलम्बित नहीं है। उसका मूल्य उपकृत व्यक्ति की शराफ़त पर निर्भर है।

६ महात्माओं की मित्रता की अवहेलना मत करो और उन लोगों का त्याग मत करो जिन्होंने मुसीबत के वक्त तुम्हारी सहायता की।

७ जो किसी को कष्ट से उबारता है जन्म जन्मान्तर तक उस का नाम कृतज्ञता के साथ लिया जायेगा।

८ उपकार को भूल जाना नीचता है लेकिन यदि कोई भलाई के बदले बुराई करे तो उस को फौरन ही भुला देना शराफत की निशानी है।

९ हानि पहुंचाने वाले की यदि कोई मेहरबानी याद आ जाती है तो महाभयकर व्यथा पहुंचाने वाली चोट उसी दम भूल जाती है।

१० और सब दोषों से कलंकित मनुष्यों का तो उद्धार हो सकता है किन्तु अभागे अकृतज्ञ मनुष्य का कभी उद्धार न होगा।

आत्म संयम

१ आत्म संयम से स्वर्ग प्राप्त होता है, किन्तु असंयत इन्द्रिय लिप्सा रौरव नरक के लिये खुली शाह राह है।

२ आत्मसंयम की अपने खजाने की तरह रक्षा करो उस से बढ़कर इस दुनिया में जीवन के पास और कोई धन नहीं है।

३ जो पुरुष ठीक तरह से समझ बूझकर अपनी इच्छाओं

का दमन करता है मेघा और अन्य दूसरी नियामतें उस मिलेंगी।

४ जिस ने अपनी इच्छा को जीत लिया है और जो अपने कर्तव्य से विचलित नहीं होता उस की आकृति पहाड़ से भी बढ़कर रोबोदाब वाली होती है।

५ नम्रता सभी को सोहती है। मगर वह अपनी पूरी शान के साथ अमीरों में ही चमकती है।

६ जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों को उसी तरह अपने में खींच कर रखता है जिस तरह कछुआ अपने हाथ पाँव को खींच कर भीतर छुपा लेता है, उसने अपने समस्त आगामी जन्मों के लिए खजाना जमा कर रक्खा है।

७ और किसी को चाहे तुम मत रोको मगर अपनी ज़ुबान को लगाम दो क्योंकि बेलगाम की ज़ुबान बहुत दुःख देती है।

८ मगर तुम्हारे एक शब्द से भी किसी को पीड़ा पहुँचती है तो तुम अपनी सब नेकी नष्ट हुई समझो।

९ आग का जला हुआ तो समय पाकर अच्छा हो जाता है मगर ज़ुबान का लगा हुआ जख्म सदा हरा बना रहता है।

१० उस मनुष्य को देखो जिस ने विद्या और बुद्धि प्राप्त कर ली है जिसका मन शान्त और पूर्णतः वश में है धार्मिकता और नेकी उसका दर्शन करने के लिये उसके घर में आती हैं।

सदाचार

१ जिस मनुष्य का आचरण पवित्र है सभी उसकी इज्जत करते हैं। इसलिये सदाचार को प्राणों से बढ़ कर समझना

२ अपने आचरण की खूब देख रेख रक्खो क्योंकि तुम जहां चाहो खोजो सदाचार से बढ़ कर पक्का दोस्त कहीं नहीं पा सकते।

३ सदा सम्मानित परिवार को प्रकट करता है, मगर दुराचार मनुष्य को कमीनों में जा बिठाता है।

४ वेद भी अगर विस्मृत हो जाएँ तो फिर याद कर लिये जा सकते हैं मगर सदाचार से यदि एकबार भी मनुष्य स्खलित हो गया तो सदा के लिये अपने स्थान से भ्रष्ट हो जाता है।

५ सुख समृद्धि ईर्ष्या करने वालों के लिये नहीं है ठीक इसी तरह गौरव दुराचारियों के लिये नहीं है।

६ दृढ़प्रतिज्ञ सदाचार से स्खलित नहीं होते क्योंकि वे जानते हैं कि इस प्रकार के स्खलन से कितनी आपत्तियाँ आती हैं।

७ मनुष्य समाज में सदाचारी मनुष्य का सम्मान होता है लेकिन जो लोग सन्मार्ग से बहक जाते हैं बदनामी और बेइज्जती ही उन्हें नशीब होती है।

८ सदाचार सुख सम्पत्ति का बीज बोता है मगर दुष्ट प्रवृत्ति असीम असीम आपत्तियों की जननी है।

९ वाहियात और गन्दे शब्द भूल कर भी शरीफ आदमी की जुबान से नहीं निकलेंगे।

१० मूर्खों को और जो चाहो तुम सिखा सकते हो मगर सदा सन्मार्ग पर चलना वे कभी नहीं सीख सकते।

तप

१ शान्तिपूर्वक दुःख सहन करना और जीव हिंसा न करना बस इन्हीं में तपस्या का समस्त सार है।

२ तपस्या तेजस्वी लोगों के लिये ही है दूसरे लोगों का तप करना बेकार है।

३ तपस्वियों को खिलाने पिलाने और उनकी सेवा शुश्रूषा करने के लिये कुछ लोग होने चाहियें क्या इसी विचार से बाकी लोग तप करना भूल गये हैं।

४ यदि तुम अपने शत्रुओं का नाश करना और उन लोगों को उन्नत बनाना चाहते हो जो तुम्हें प्यार करते हैं तो जान रक्खो कि यह शक्ति तप में है।

५ तप समस्त कामनाओं को यथेष्ट रूप से पूर्ण कर देता है इस लिये लोग दुनिया में तपस्या के लिये उद्योग करते हैं।

६ *जो लोग तपस्या करते हैं वही तो वास्तव में अपना भला करते हैं* बाकी सब तो लालसा में फंसे हुए हैं और अपने को केवल हानि ही पहुँचाते हैं।

७ सोने को जिस आग में पिघलाते हैं वह जितनी ही ज्यादा तेज होती है सोने का रङ्ग उतना ही ज्यादा तेज निकलता है ठीक इसी तरह तपस्वी जितनी ही कड़ी मुसीबतें सहता है उसकी प्रकृति उतनी ही अधिक विशुद्ध हो जाती है।

८ देखो जिसने अपने पर प्रभुत्व प्राप्त कर लिया है उस पुरुषोत्तम को सभी लोग पूजते हैं।

९ देखो जिन लोगों ने तप करके शक्ति और सिद्धि प्राप्त कर ली है वे मृत्यु को जीतने में भी सफल हो सकते हैं।

१० अगर दुनिया में हाजतमन्दों की तादाद अधिक है तो इसका कारण यही है कि वे लोग जो तप करते हैं, थोड़े हैं, और जो तप नहीं करते हैं, उनकी संख्या अधिक है।

अहिंसा

१ अहिंसा सब धर्मों में श्रेष्ठ है। हिंसा के पीछे हर तरह पाप लगा रहता है।

२ हाजतमन्द के साथ अपनी रोटी बाट कर खाना और हिंसा से दूर रहना यह सब पैगम्बर के समस्त उपदेशों में श्रेष्ठतम उपदेश है।

३ अहिंसा सब धर्मों में श्रेष्ठ धर्म है। सचाई का दर्जा उसके बाद है।

४ नेक रास्ता कौन सा है? यह वही मार्ग है जिस में इस बात का खयाल रखा जाता है कि छोटे से छोटे जानवर को भी मारने से किस तरह बचाया जावे।

५ जिन लोगों ने इस पापमय सांसारिक जीवन को त्याग दिया है, उन सब में मुख्य वह पुरुष है जो हिंसा के पास से डर कर अहिंसा मार्ग का अनुसरण करता है।

६ धन्य है वह पुरुष जिसने अहिंसा व्रत धारण किया है। मौत जो सब जीवों को खा जाती है, उसके दिनों पर हमला नहीं करती।

७ हमारी जान पर भी आ बने तब भी किसी की प्यारी जान मत लो।

८ लोग कह सकते हैं कि बलि देने से बहुत सारी निया-

मज़ें मिलती हैं मगर पाक दिल वालों की दृष्टि में वे नियामतें जो हिंसा करने से मिलती हैं जघन्य और घृणास्पद हैं।

९ जिन लोगों का जीवन हत्या पर निर्भर है समझदार लोगों की दृष्टि में व मुर्दाखोरों के समान हैं।

१० देखो वह आदमी जिसका सड़ा हुआ शरीर पीबदार जख्मों से भरा हुआ है गुज़रे ज़माने में खून बहाने वाला रहा होगा ऐसा बुद्धिमान् लोग कहते हैं।

मित्रता

१ दुनिया में ऐसी कौन सी वस्तु है जिसका हासिल करना इतना मुश्किल है जितना कि दोस्ती का ! और दुश्मनों से रक्षा करने के लिए मित्रता के समान और कौन सा कवच है !

२ योग्य पुरुषों की मित्रता बढ़ती हुई चन्द्रकला के समान है मगर बेवकूफों की दोस्ती घटते हुए चान्द के समान है।

३ योग्य पुरुषों की मित्रता दिव्य ग्रन्थों के स्वाध्याय के समान है, जितनी ही उन के साथ तुम्हारी घनिष्ठता होती जायगी उतनी ही अधिक खूबियाँ तुम्हें उनके अन्दर दिखायी पड़ने लगेंगी।

४ मित्रता का उद्देश्य हंसी दिल्लगी करना नहीं है बल्कि जब कोई बहक कर कुमार्ग में जाने लगे तो उसको रोकना और उसकी भर्त्सना करना ही मित्रता का लक्ष्य है।

५ बार बार मिलना और सदा साथ रहना इतना ज़रूरी नहीं है यह तो हृदयों की एकता ही है कि जो मित्रता के सम्बन्ध को स्थिर और सुदृढ़ बनाती है।

६ हसी दिल्लगी करने वाली गोष्ठी का नाम मित्रता नहीं है, मित्रता तो वास्तव में प्रेम है जो हृदय को आल्हादित करता है।

७ जो मनुष्य तुम्हें बुराई से बचाता है, नेक राह पर चलाता है और जो मुसीबत के वक्त साथ देता है, बस वही मित्र है।

८ देखो, उस आदमी का हाथ कि जिस के कपड़े हवा से उड़ गये है, कितनी तेज़ी के साथ फिर से अपने बदन को ढकने के लिये दौड़ता है! वही सच्चे मित्र का आदर्श है जो मुसीबत में पड़े हुए आदमी की सहायता के लिये दौड़ कर जाता है।

९ मित्रता का दरबार कहा पर लगता है? बस वहीं पर कि जहा दिलों के बीच में अनन्य प्रेम और पूर्ण एकता है और जहा दोनों मिल कर हर एक तरह से एक दूसरे को उच्च और उन्नत बनाने की चेष्टा करें।

१० जिस दोस्ती का हिसाब लगाया जा सकता है उसमें एक तरह का कँगलापन होता है। वह चाहे कितने ही गर्व पूर्वक कहे—मैं उसको इतना प्यार करता हूं और वह मुझे इतना चाहता है।

मित्रता के लिये योग्यता की परीक्षा

१ इससे बढ़ कर बुरी बात और कोई नहीं है कि बिना परीक्षा किये किसी के साथ दोस्ती कर ली जाय क्योंकि एक बार मित्रता हो जाने पर सहृदय पुरुष फिर उसे छोड़ नहीं सकता।

२ देखो जो पुरुष पहले आदमियों की जाँच किये बिना ही उन को मित्र बना लेता है वह अपने सर पर ऐसी आपत्तियों को बुलाता है कि जो सिर्फ उसकी मौत के साथ ही समाप्त होंगी।

३ जिस मनुष्य को तुम अपना दोस्त बनाना चाहते हो उसके कुल का उसके गुण दोषों का कौन २ लोग उसके साथी हैं और किन किन के साथ उसका सम्बन्ध है—इन सब बातों का अच्छी तरह से विचार कर लो और उसके बाद यदि वह योग्य हो तो उसे दोस्त बना लो।

४ देखो जिस पुरुष का जन्म उच्च कुल में हुआ है और जो बेइज़्ज़ती से डरता है उसके साथ आवश्यकता पड़े तो मूल्य देकर भी दोस्ती करनी चाहिये।

५ ऐसे लोगों को खोजो और उनके साथ दोस्ती करो कि जो सन्मार्ग को जानते हैं और तुम्हारे बहक जाने पर तुम्हें झिड़क कर तुम्हारी भर्त्सना कर सकते हैं।

६ आपत्ति में भी एक गुण है—वह एक पैमाना है जिससे तुम अपने मित्रों को नाप सकते हो।

७ निःसन्देह मनुष्य का लाभ इसी में है कि वह मूर्खों से मित्रता न करे।

८ ऐसे विचारों को मत आने दो जिनसे मन खोरसाह और उदास न हो और न ऐसे लोगों से दोस्ती करो कि जो दुःख पड़ते ही तुम्हारा साथ छोड़ देंगे।

९ जो लोग मुसीबत के वक्त धोखा दे जाते हैं उनकी मित्रता की याद मौत के वक्त भी दिल में जलन पैदा करेगी।

१० पाकोसाफ़ लोगों के साथ बड़े शौक से दोस्ती करो, मगर जो लोग तुम्हारे अयोग्य है उनका साथ छोड़ दो, इस के लिये चाहे तुम्हें कुछ भेंट भी देनी पड़े।

झूठी मित्रता

१ उन कमवख्त नालायकों से होशियार रहो कि जो अपने लाभ के लिये तुम्हारे पैरों पर पड़ने के लिये तय्यार है, मगर जब तुम से उनका कुछ मतलब न निकलेगा तो वे तुम्हें छोड़ देंगे। भला ऐसों की दोस्ती रहे या न रहे इस से क्या आता जाता है।

२ कुछ आदमी उस अक्खड़ घोड़े की तरह होते है कि जो युद्धक्षेत्र में अपने सवार को गिरा कर भाग जाता है। ऐसे लोगों से दोस्ती रखने की बनिस्वत तो अकेले रहना हज़ार दर्जे बेहतर है।

३ बुद्धिमानों की दुश्मनी भी बेवकूफों की दोस्ती से हज़ार दर्जे बेहतर है, और खुशामदी और मतलबी लोगों की दोस्ती से दुश्मनों की घृणा सैकड़ों दर्जे अच्छी है।

४ देखो जो लोग यह सोचते हैं कि हमें उस दोस्त से कितना मिलेगा वे उसी दर्जे के लोग हैं कि जिन में चोरों और बाज़ारू औरतों की गिनती है।

५ खबरदार! उन लोगों से जरा भी दोस्ती न करना कि जो कमरे में बैठ कर तो मीठी मीठी बातें करते है मगर बाहर आम मजलिस में निन्दा करते हैं।

६ जो लोग ऊपर से तो दोस्ती रखते हैं मगर दिल में

दुश्मनी रखते हैं उनकी मित्रता औरत के दिल की तरह ज़रा सी देर में बदल जायगी।

७ उन प्रकार बदमाशों से डरते रहो कि जो आदमी के सामने ऊपरी दिल से हंसते हैं मगर अन्दर ही अन्दर दिल में जानी दुश्मनी रखते हैं।

८ दुश्मन अगर नम्रता पूर्वक झुककर बात चीत करे तो भी उसका विश्वास न करो क्योंकि कमान जब झुकती है तो यह और कुछ नहीं (खराबी की ही पेशीनगोई करती है) अनिष्ट की ही भविष्यवाणी करती है।

९ दुश्मन अगर हाथ जोड़े तब भी उसका विश्वास न करो मुमकिन है कि उसके हाथों में कोई हथियार छुपा हो और न तुम उसके आंसू बहाने पर ही कुछ यकीन लाओ।

१० अगर दुश्मन तुम से दोस्ती करना चाहे और यदि तुम अपने दुश्मन से खुली खुला बैर नहीं कर सकते हो तो उसके सामने ज़ाहिरी दोस्ती का बर्ताव करो मगर दिल से उसे सदा दूर रक्खो।

मूर्खता

१ *क्या तुम जानना चाहते हो कि मूर्खता किसे कहते हैं!* जो चीज़ लाभदायक है, उसको फेंक देना और हानिकारक पदार्थ को पकड़ रखना—बस यही मूर्खता है।

२ मूर्ख मनुष्य अपने कर्तव्य को भूल जाता है जुबान से वाहियात और सख्त बातें *निकालता है* उस किसी तरह का शर्म और हया का ख्याल नहीं होता और न किसी नेक बात को पसन्द करता है।

३ एक आदमी खूब पढ़ा लिखा और चतुर है और दूसरों का गुरु है, मगर फिर भी वह इन्द्रिय-लिप्सा का दास बना रहता है—उस से बढ़ कर मूर्ख और कोई नहीं है।

४ अगर मूर्ख को इत्तफाक से बहुत सी दौलत मिल जाय तो पेरे गैरे अजनबी लोग ही मज़े उड़ायेंगे मगर उसके बन्धु बान्धव तो वेचारे भूखों ही मरेंगे।

५ योग्य पुरुषों की सभा में किसी मूर्ख मनुष्य का जाना ठीक वैसा ही है जैसा कि साफ़ सुथरे पलङ्ग के ऊपर मैला पैर रख देना।

६ अकल की ग़रीबी ही वास्तविक ग़रीबी है और तरह की ग़रीबी को दुनियाँ ग़रीबी ही नहीं समझती।

७ मूर्ख आदमी खुद अपने सर पर जो मुसीबतें लाता है, उसके दुश्मनों के लिये भी उसको वैसी ही मुसीबतें पहुँचानी मुश्किल होंगी।

८ क्या तुम यह जानना चाहते हो कि मन्द बुद्धि किसे कहते हैं? बस उसी अहङ्कारी को जो अपने मन में कहता है कि मैं अक़्लमन्द हूँ।

९ मूर्ख आदमी अगर अपने नङ्गे बदन को ढकता है तो इस से क्या फायदा, जब कि उसके मन के ऐब ढँके हुए नहीं हैं?

१० देखो जो आदमी न तो खुद भला बुरा पहचानता है और न दूसरों की सलाह मानता है, वह अपनी जिन्दगी भर अपने साथियों के लिये दुःखदायी बना रहता है।

इति।